कठोपनिषद् के रहस्य

('The Secrets of The Katha Upanishad'
का हिन्दी अनुवाद)

प्रवक्ता :
स्वामी कृष्णानन्द

भाषान्तरकर्त्री :
सुश्री प्रकाश अग्रवाल

प्रकाशक : दिव्य जीवन सङ्घ,
पो० शिवानन्दनगर–२४९१९२ (वाया-ऋषिकेश),
जिला–टिहरी-गढ़वाल, (उ०प्र०), हिमालय ।

मूल्य] १९७६ [पाँच रुपये

डिवाइन लाइफ सोसायटी के लिए श्री स्वामी कृष्णानन्द ज
द्वारा प्रकाशित तथा श्री देवेन्द्र विज्ञानी जी द्वारा विज्ञान प्रेस
ऋषिकेश, जिला देहरादून, (उ०प्र०) में मुद्रित ।

प्रथम हिन्दी-संस्करण — १९७६
(२००० प्रतियाँ)

बम्बई के श्री शिवनारायण कपूर जी द्वारा दिव्य जीवन सङ्घ के हितार्थ की गयी उत्कृष्ट सेवाओं के उपलक्ष में प्रकाशित ।

(१००० प्रतियां)

•

दिव्य जीवन सङ्घ के प्रमुखालय में आयोजित सप्त-
दिवसीय साधना-शिविर (१९७३) के पुनीत अवसर
पर श्री स्वामी जी महाराज ने कठोपनिषद् पर सात दि
प्रवचन किये थे। वे सातों प्रवचन इस पुस्तक में सङ्कलि
किये गये हैं। इस अवसर पर साधना-पथ के विभिन्न क्षमत
और प्रतिभा वाले साधक-श्रोता उपस्थित थे। अतः प्रस्तु
प्रवचनों में वस्तु-विषय को सरल और सुबोध बना देने जै
औपचारिक आत्मीयता का स्पर्श, प्रभाव एवं प्रवाह है। इत
ही नहीं प्रत्युत् सभी प्रवचनों में आद्योपान्त वार्त्तालाप का
पुट दिया गया है जो औपचारिक निबन्धों जैसी रूढ़िबद्ध
नाओं में दुष्प्राप्य रहता है।

प्रथम प्रवचन के आरम्भ में इस सांसारिक स्थिति
परिप्रेक्ष्य में मानव के प्रत्यक्ष ज्ञान और बुद्धि की वर्त
अवस्था का वर्णन है। तदुपरान्त उच्च लोकों की प्राप्ति
वाजश्रवस द्वारा किये गये यज्ञ, नचिकेता द्वारा की
जिज्ञासा एवं प्रश्न, यमराज से नचिकेता की भेंट, न
द्वारा याचित तीन वरदान, साधना-पथ पर मिलने वाले

मन, साधक की अटलता और अन्ततः अनुभव-जगत् की दृष्टि से श्रेय और प्रेय के पारस्परिक अन्तर का विवेचन है।

द्वितीय प्रवचन में जिन तथ्यों की विस्तृत व्याख्या की गयी है वे हैं श्रेय तथा प्रेय, अज्ञानवशात् मन (अहं) और शरीर को प्रिय लगने वाले पदार्थों की चाह में निहित त्रुटि, इह-लौकिक एवं पारलौकिक जीवन, सांसारिक अनुभव के स्वरूप, औपनिषदीय उपदेशों में निहित आध्यात्मिक तत्त्व तथा नचिकेता को प्राप्त तीन वरदानों द्वारा जीवात्मा के आरोहण की तीन भूमिकाएँ।

तृतीय प्रवचन आभ्यन्तर जीवन-यापन के लिए वाञ्छित संयम, गुरु की आवश्यकता, उच्चतर ज्ञान का स्वरूप तथा परम सत्ता की उपासना के सात सोपानों (भूमिकाओं) की ओर इङ्गित करता है।

चतुर्थ प्रवचन का प्रसङ्ग है परम सत्ता का तर्कातीत स्वरूप और उसका ज्ञान, परम सत्य सापेक्ष्य मानव-सत्ता-रूपी रथ के दृष्टान्त द्वारा विवेचित योग-पद्धति जो अध्यात्म-साधना का सर्वाधिक व्यावहारिक पक्ष है, आध्यात्मिक पथ की कठि-नाइयाँ और आत्मा के आन्तर पथ की सूक्ष्म जटिलताएँ।

पञ्चम प्रवचन में संवेदना, इन्द्रियजन्य ज्ञान और संज्ञान (मानसिक ज्ञान) की भौतिक प्रक्रियाओं का, शून्यता, एकाग्रता और ध्यान का, तथा व्यष्टि के समष्टि में विलयन के स्वरूप और उसके अनुभव का अन्वेषण-विश्लेषण है।

षष्ठ प्रवचन परब्रह्म के दिव्य पथ पर आत्मा की भव्य गति तथा चेतना के महानतम योग और उस योग की अलौकिक उपलब्धियों पर प्रकाश डालता है।

सप्तम प्रवचन का केन्द्रीय विषय है जीवन तथा मृत्यु रहस्य तथा परम सत्ता के महामिलन की पद्धतियों विवेचन।

ऐसी पुस्तक, जिसके पृष्ठों में आद्योपान्त आत्मज्व इतनी प्रखर हो, बिरली ही होगी। हमें विश्वास है कि इर भली-भाँति अध्ययन करने पर योग और आत्म-दर्शन के अ अनुभव करेंगे कि ऐसी पुस्तक के सम्पर्क में वे प्रथम बार आये हैं।

शिवानन्दनगर —प्रक

पूर्विका

भाषान्तरण के सन्दर्भ में

मैं अनुवादक नहीं हूँ। जिन्हें श्री स्वामी जी महाराज
प्रवचनों की मन्दाकिनी में अवगाहन करने का सौभाग
ाप्त हुआ होगा, उन्होंने इस आनन्द का अनुभव किया होग
ासकी अभिव्यञ्जना गूँगे के गुड़ के समान है। मेरी भ
ार-बार वैसी ही डूबने-उतराने जैसी दशा हुई है। अत
प अनिर्वचनीय अनुभूति की वर्णन-क्षमता से परे होने क
वश-सी स्थिति में यही भावना प्रबल हो उठी कि आनन्द क
स उन प्रवचनों को हिन्दी भाषी जनता के समक्ष ले आऊँ
न्तु यह भी भली-भाँति सम्भव न हो सका। अनेक स्थल
ा होंगे जहाँ मेरे शब्दों में पूज्य स्वामी जी के भावों और
चारों की सूक्ष्मता एवं गहराई नहीं उतर सकी होगी। सुधी
धकों से विनम्र निवेदन है कि अगले हिन्दी संस्करण में
न-प्रवचनों का प्राण-प्रवेश अक्षुण्ण रखने में सहायक हों और
ुवादकीय त्रुटियों की ओर सङ्केत करके मुझे कृतार्थ करने
कष्ट करें।

—प्रकाश अग्रवाल

श्री स्वामी कृष्णानन्द जी

कठोपनिषद्

के

रहस्य

प्रथम प्रवचन

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ओ३म् ! (वह परमात्मा) हम दोनों आचार्य और शिष्य की रक्षा करें। हम दोनों का पालन करें। हम दोनों बल प्राप्त करें और हम दोनों की अध्ययन की हुई विद्या तेज पूर्ण हो अर्थात् हम धर्मशास्त्रों के सत्यार्थ को पाने में यत्नशील हों। हम परस्पर कभी द्वेष न करें। त्रिविध ताप शान्त हों।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इस वर्ष साधना-सप्ताह में सम्मिलित होने के लिए आए हुए अनेक साधकों का आग्रह था कि इस पुण्य अवसर पर कठोपनिषद् नामक वैदिक शास्त्र में प्रतिपादित तथ्यों का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया जाय। हिमालय-तल में स्थित इस पुण्य स्थल पर दूर-दूर से साधकों के आने का उद्देश्य स्पष्ट है अर्थात् जीवन के निगूढ़ रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करना तथा जिन रहस्यों में हमारा जीवन उलझा प्रतीत होता है, उन

पहुँचना। आप सब का यहाँ इस पुनीत आश्रम में पधारने
उद्देश्य और प्रयोजन वस्तुतः वही है जो होना चाहिए—आ
व्यक्तित्व की उलझनों से, जीवन की आसक्तियों से विमुक्त हो
अर्थात् आत्म-ज्ञान प्राप्त करना तथा अपने स्वयं के सम्बन्ध
एक नवीन उद्‌बोधन। यथा हम क्या हैं तथा वे क्या हैं जो ह
लिप्त रखते हैं या हम जिनमें लिप्त रहते हैं,—इस सम्बन्ध
आप नवीन ज्ञान के साथ यहाँ से लौटना चाहते हैं।

कठोपनिषद् में हमारा स्वयं ही का जीवन अध्ययन व
विषय है। समस्त पदार्थों के कुशल निर्माता द्वारा हमा
जीवन बड़ी निपुणतापूर्वक विभिन्न सूत्रों से बुना एक ऐस
नमूना है कि कोई आसानी से समझ ही नहीं सकता कि य
किस प्रकार बनाया गया है और क्यों बनाया गया है? मान
होने के नाते हम जीवन को प्रायः एक खुली पुस्तक मान ले
हैं। उसे दिन के प्रकाश की तरह सुस्पष्ट मान कर इ
धारणा के साथ कि सब कुछ बड़ा सरल-सुबोध है, हम मन क
लहर के अनुसार ही नित्य के कामों में जुट जाते हैं। मान
की यह बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण धारणा है। जीवन का पट हमारे समक्ष
फैला हुआ है; परन्तु वह उतना सपाट नहीं है जितने का हम
कल्पना करते हैं।

प्राचीन समय में पृथ्वी का धरातल समतल माना जाता था
और लोगों की मान्यता के अनुसार सूर्य उसके नितान्त समतल
धरातल को आलोकित करने के लिए उगता और अस्त होता
था। उन्हें ज्ञान नहीं था कि सूर्य गेंद के समान गोल है। वे
समझते थे कि सूर्य पृथ्वी से छोटे आकार का है और पृथ्वी के
चारों ओर घूमता है। उन्हें नहीं ज्ञात था कि ग्रहों की गति
बड़ी पेचीदी है और उसमें निहित शक्ति और बल को सूर्य या

पृथ्वी तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। आज ज्योतिष-शास्त्र, जिसे अस्तित्व का तथा खगोलीय प्रणाली का विज्ञान भी कहा जाता है, केवल वस्तुओं का विज्ञान न रहकर शक्तियों की एक जटिल संरचना हो गया है। जिन वस्तुओं की ओर देवतात्माएँ भी अग्रसर होने में भयभीत होती हैं, वे वस्तुएँ हमारी स्थूल दृष्टि से जैसी दिखायी देती हैं, उन्हें वैसा ही मान कर हम मूर्खों की तरह उनकी ओर दौड़ पड़ते हैं। परिणाम क्या होता है? केवल यही कि हम अदृश्य शक्तियों के सबल चंगुल में फँस जाते हैं। जिस प्रकार बन्दरों को पकड़ने के लिए रस्सियों का जाल फैलाया जाता है और भोजन प्राप्त होने के भ्रम में वे पकड़ में आ जाते हैं; उसी प्रकार महास्रष्टा ने भी हमारे समक्ष यह जगज्जाल बिछाया हुआ है जो हमारी इन्द्रियों को स्वर्गिक सुख जैसा लगता है; परन्तु जब हम उसकी ओर धावित होते हैं तो उसी में फँस कर रह जाते हैं और तब पश्चात्ताप करने का समय भी बीत चुका होता है।

इस जाल में सृष्टि के आरम्भ से लेकर अब तक सब फँसे हुए हैं। तब कैसे विश्वास किया जाय कि भावी पीढ़ी इससे मुक्त रह सकेगी? जीवन-सत्ता मात्र हमारी पसन्द या नापसन्द अथवा हमारे आमोद-प्रमोद का क्षेत्र नहीं है। सत्ता की बाह्य और आभ्यन्तर दोनों संरचनाएँ बड़ी कुशलतापूर्वक सोच-विचार कर हुई हैं। हम जितना ही अधिक विश्व-रचना के रहस्य को जानने का यत्न करते हैं, उतनी ही अधिक उस महारचनाकार की कुशलता की सराहना किये बिना नहीं रहा जाता। यह (विश्व) कोई सरल रचना नहीं है। यह पृथ्वी नामक उपग्रह गेंद जैसा गोल नहीं है कि जिसके तल पर हम चींटियों सदृश रेंगते हों। यह विश्व, यह जीवन अत्यन्त सूक्ष्म

और रहस्यमय है और बुद्धि द्वारा समझ में आने से कहीं अधिक अन्तर्वलयित (जटिल) है। जीवन और मरण का रहस्य कहा जाने वाला तत्त्व कठोपनिषद् की वर्ण्य विषय-वस्तु है। ठीक है; परन्तु यदि विचार किया जाय तो दोनों शब्द जीवन और मरण एक ही तथ्य के द्योतक हैं, समानार्थी हैं, एक ही घटना के दो पहलू हैं। यह जीवन और मरण का—आप जैसे भी कहना चाहें, रहस्य ही कठोपनिषद् का रहस्य है। लेकिन साथ ही यह अखिल सत्ता के रहस्य का, आपके और मेरे रहस्य का, अन्य सभी के रहस्य का, हमारे कार्यों तथा कार्यों के परिणामों का, हमारे सुख-दुःख-भोगों का और यहाँ तक कि भगवान् के रहस्य का भी उद्घाटन है।

इन अवशिष्ट कतिपय साधना-दिवसों में हम इस रोचक उपनिषद् का सार सुबोध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। उपनिषद् का अर्थ है जीवन का गुह्य ज्ञान। मेरी हार्दिक कामना है कि हमारा कथन और श्रवण एक विशेष प्रकार के चिन्तन में परिणत हो जाय—ऐसे ध्यान में परिणत हो जाय जिसके द्वारा हमारी जीवात्माएँ उच्च ज्ञान और अनुभव के प्रति ऊर्ध्वमुखी हों।

कठोपनिषद् वेद के ब्राह्मण नामक विभाग का सूत्रीय परिशिष्ट है। प्रत्येक वेद का एक ब्राह्मण विशेष होता है और उसके उपसंहार-स्वरूप सूत्रीय व्याख्या होती है जिसे उपनिषद् कहते हैं। कठोपनिषद् इसी प्रकार की सूत्रीय गुह्य आध्यात्मिक व्याख्या है जो कृष्ण-यजुर्वेद के ब्राह्मण में परिशिष्ट-रूप जुड़ी है। इसमें मानव के सम्पूर्ण जीवन का समग्र ज्ञान सञ्चित है जो सत्य के महाशोधक और महासाधक नचिकेता

के उपाख्यान में बुना गया है कि कैसे इस छोटे से बालक के हृदय में जीवन के परम सत्य को जानने की महत्वाकांक्षा उदित हुई तथा कैसे वह रहस्यमयी शक्तियों द्वारा उस सत्य तक पहुँच सका। औपनिषदिक कथ्य की पृष्ठ-भूमि में जो उपाख्यान है, वह कुछ इस प्रकार से है—मोटी रूपरेखा यह है। वाजश्रवस नाम के एक ऋषि थे जो गौतम नाम से भी विख्यात थे। उन्होंने स्वर्गलोक की प्राप्ति हेतु विश्वजित् यज्ञ किया। यह एक विशेष प्रकार का यज्ञ था जिसमें यजमान को अपनी समस्त प्रिय वस्तुएँ दान में दे देनी पड़ती थीं। यही यज्ञ, जिसे सर्ववेदस् यज्ञ भी कहते हैं, गौतम ऋषि ने किया। इसकी पूर्ति द्वारा वे देवलोक का ऐश्वर्य भोगना चाहते थे। अतः इस अवसर पर उन्होंने अपनी समस्त वस्तुएँ दान कर दीं (यज्ञ-पूर्ति हेतु यह आवश्यक था)। उनके पास जो कुछ भी था, कितने ही मूल्य का क्यों न था, सब दान कर दिया। सब कुछ दे दिया गया। शेष कुछ भी न बचा। जो कुछ भी उनके पास था, वह प्रति दिन इसी प्रकार देते रहे। नचिकेता इसी महर्षि वाजश्रवस का एकमात्र पुत्र था। वह साक्षर नहीं था, शिक्षित भी नहीं, सीधा-सादा बालक! उसने अपने पिता को यह अद्भुत यज्ञ करते हुए देखा, देखता रहा—प्रत्येक वस्तु दी जा रही है, सब कुछ जा रहा है; ऋषि की समस्त सम्पत्ति दान की जा रही है।

उन दिनों पशुओं को भी बड़ी सम्पत्ति माना जाता था। पशु-धन को ही वास्तविक सम्पत्ति माना जाता था। ऋषि के झुण्ड के झुण्ड पशु दान में दिये जा रहे थे। परन्तु बालक नचिकेता के भावुक मन को इससे पीड़ा पहुँची; क्योंकि उसने देखा वे पशु भूख से सूखे हुए थे—अस्थि-पञ्जर मात्र।

दान में ऐसी गायें भी दी जा रही थीं जिन्होंने 'अन्तिम बा जल पिया था, अन्तिम बार घास खायी थी, जिनक प्रजनन-शक्ति समाप्त हो चुकी थी, जिनके शरीर भी नितान बलहीन थे और जिनकी दुर्बल टाँगें लड़खड़ा रही थीं।

ओह, पिता द्वारा ऐसी वस्तुएँ दान की जा रही हैं !- बालक में कुछ पूछने का साहस नहीं था; परन्तु फिर भी वह भावुक बालक किसी कारण बोलने को बाध्य हुआ और अपने पिता को सम्बोधित करते हुए बोला, 'पिता जी ! आपने अपनी समस्त वस्तुएँ दान कर दीं। मैं आपका पुत्र हूँ। कदाचित् मुझ पर भी आपका ही अधिकार है। अतः आपने मुझे किसको दान करने का निर्णय किया है ? इस यज्ञ में, जो कुछ आपका है, सभी अर्पित करना है। पुत्र होने के नाते कुछ सीमा तक मैं भी आपकी सम्पत्ति में आता हूँ। अतः स्पष्ट ही आप मुझे भी दान करने का विचार कर रहे होंगे। मुझे आप किसे देंगे ?'

उनका पुत्र को दान करने का विचार कदापि नहीं था इसकी वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने पुत्र की बात अनसुनी कर दी। पुत्र ने दूसरी बार वही प्रश्न किया, 'आप मुझे किसे देना चाहते हैं ?' वे चुप रहे, परन्तु अन्तर में अतिशय क्रुद्ध हो उठे। 'कितना दुराग्रही है। मुझसे टक्कर लेता है। पूछे जा रहा है।' तभी तीसरी बार पुनः बालक के वही प्रश्न करने पर पिता ने झुँझलाकर कह दिया, 'चले जाओ नरक में।' झुँझलाहट में हम भी प्रायः ऐसा ही कह देते हैं। उन्होंने कहा, 'तुझे मृत्यु को देता हूँ।' वे क्रोध से भरे थे। 'अच्छा आप मुझे मृत्यु को दे रहे हैं', इतना कहकर

नचिकेता सोचने लगा, 'मृत्यु मेरा क्या करेगी ? उसके तो अधिष्ठातृदेव यमराज हैं। तो क्या मैं यम को दिया जा रहा हूँ ? यमराज भी मेरा क्या करेंगे ? मुझसे उनका कौन-सा प्रयोजन पूर्ण होगा, समझ में नहीं आता।'

पिता द्वारा दिये इस शाप के कारण बालक की आत्मा सकी देह से बहिर्गमन कर गयी। यदि हम उपनिषद् की क्तियों पर ध्यान दें तो प्रत्यक्ष रूप में बालक की मृत्यु हो यी थी। वह यम के घर उसी तथ्य की खोज में पहुँच गया, दाचित् जिस तथ्य के लिए ही उसके पिता ने उसे वहाँ भेजा ा। यम वहाँ दृष्टिगत नहीं हुए। अतिथि यम के द्वार पर खड़ा है, परन्तु गृह-स्वामी अनुपस्थित हैं। वह कहीं गये हुए हैं; पर किसी को भी यह पता नहीं था कि वे कहाँ गये हुए हैं ? दिन व्यतीत होता है, रात्रि व्यतीत होती है। दूसरा दिन और रात भी व्यतीत होती है; तीसरा दिन और रात भी। बालक बिना अन्न-जल के प्रतीक्षा में खड़ा है। इससे अधिक अशुभ कुछ नहीं होता कि अतिथि द्वार पर निराहार रहे। कहा जाता है कि यदि द्वार पर आया अतिथि भूखा रहे तो गृह-स्वामी को निश्चित रूप में अभिशाप लगता है। उसके समस्त पुण्य द्वार पर खड़े क्षुधातुर अतिथि को चले जाते हैं।

तीसरा दिन समाप्त होने पर यम लौटे। सुना कि कोई मर्त्य किसी उद्देश्य से उनकी खोज में आया है और तीन दिन तीन रात से उपवास किये हैं। सुनकर सहानुभूतिवश यम तुरन्त बाहर आते हैं—'हे महर्षि ! मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ ? हे बालक, तुम यहाँ तीन दिन से खड़े हो। तुमने इन तीन दिनों क्या भोजन किया ? प्रथम दिन तुमने क्या खाया, दूसरे दिन क्या भोजन लिया, तीसरे दिन क्या खाया ?'

'प्रथम दिन आपकी सन्तति का आहार किया।'

'दूसरे दिन क्या खाया ?'

'आपके समस्त पशु तथा धन।'

'और तीसरे दिन ?'

'आपके समस्त पुण्य कर्म।'

'अरे ! यह क्या, यह तो बड़ा अनर्थ हुआ'—कहते हु यम अन्दर जाकर तुरन्त पवित्र जल ले आये, उस सम्माननी अतिथि को पूर्ण कुम्भ भेंट किया, उसके चरण प्रक्षालित कि और बैठने को आसन दिया। 'इन तीन दिनों मैं अनुपस्थि रहा—इसके लिए क्षमा करने की कृपा करें तथा अपने शुभ गमन का उद्देश्य बताएँ। मैं तुम्हारी क्या सेवा कर सक हूँ ? तुम तीन दिन भूखे रहे; अतः इसके बदले मुझसे ती वर माँग लो। प्रिय वत्स, मेरे कारण तुम्हें मेरे द्वार पर भूर रहकर तीन दिन जो कष्ट उठाना पड़ा, उसके उपलक्ष्य में तुम्हें तीन वरदान देता हूँ। माँग लो।'

'ठीक है। आप मुझे वरदान माँगने को कहते हैं तो ए वर यही दीजिए कि जब मैं संसार में पुनः लौटूँ तो मेरे पित मुझे पहचान लें और मुझ पर क्रोध न करें।'

'एवमस्तु' यम ने कहा, 'संसार में लौटने पर तुम्हारे पित तुम्हें क्रोध की अपेक्षा स्नेह से अपनायेंगे। अब दूसरा वर माँगो।'

'मुझे वैश्वानर अग्नि का रहस्य बताइए जिसमें से अखिल विश्व की उत्पत्ति हुई है।'

'एवमस्तु' कहकर यम ने उसे वैश्वानर यज्ञ करने की विधि बतायी। 'प्रिय वत्स, अब एक वरदान और शेष रह गया है; अतः उसे भी माँग लो।'

'ओह, एक चीज और है। क्या मैं पूछ सकता हूँ? कुछ लोग कहते हैं आत्मा है; कुछ कहते हैं वह नहीं है, कुछ लोग कहते हैं वह जन्मता है और कुछ कहते हैं वह मरता है। कुछ लोग कहते हैं वह अजन्मा है और कुछ का कथन है कि वह अमर है। यदि आत्मा है तो इस लोक से जाने पर उसका क्या होता है?'

'वत्स, इस प्रश्न का उत्तर मत माँगो; इसके अतिरिक्त कुछ और माँग लो। दीर्घतम आयु, विपुल कल्पनातीत आमोद-प्रमोद, त्रिलोक का स्वामित्व—इनमें से जो कुछ भी चाहिए प्रस्तुत है। केवल यही न पूछो कि आत्मा क्या है, कहाँ है, है भी या नहीं, इसका क्या होता है? इस प्रकार के प्रश्न मत पूछो और कृपा करके चुप हो जाओ। जो कुछ देवताओं को प्राप्त है और जो देवताओं को भी प्राप्त नहीं है, वह तुम्हारे लिए प्रस्तुत है। मेरी कृपा से वह ऐश्वर्य और सुख जो मानव स्वप्न में भी नहीं देख सकता, तुम्हारे लिए प्रस्तुत है। सातों ऊर्ध्व लोकों का आनन्द तुम्हारे लिए है। सृष्टि-पर्यन्त जन्म-मरण से मुक्त रह सकते हो। तुम त्रिलोक के स्वामी हो। सन्तुष्ट हो न? बस, वही एक प्रश्न न पूछो।'

नचिकेता साधारण बालक नहीं था। वह दूसरी धातु का बना था। बोला, 'यह प्रश्न क्यों न पूछूँ? इसमें कठिनाई क्या है? जब आप ये सभी महान् और अद्भुत वस्तुएँ दे रहे हैं तब इस साधारण से प्रश्न का उत्तर देने में क्या कठिनाई है?'

'तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर तो देवतागण भी देने में समर्थ नहीं हैं। इतना ही नहीं, यदि सातों लोकों के देव एकत्र होकर भी इसका उत्तर देना चाहें तो नहीं दे सकते। अतः इस प्रश्न से मुझे परेशानी में न डालो। चुप हो जाओ। तुम से तीन वरदान माँगने को कहकर मैंने बड़ी भूल की है। अब तुम एक ऐसा प्रश्न पूछकर मुझे कठिन स्थिति में डाल रहे हो जिसका उत्तर मैं नहीं दे सकता और न देने को प्रस्तुत ही हूँ। तुम्हें भी यह प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। कुछ और माँगो, मैं देने को तैयार हूँ। इसका उत्तर देने के लिए क्षमा करो, इसके लिए परेशान न करो।'

'भगवन् ! आप कहते हैं कि देव भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते हैं। इसका क्या यह अर्थ नहीं है कि आप इसका उत्तर जानते हैं और मुझे इस नश्वर जगत् के आकर्षक वैभव, दीर्घ जीवन आदि का प्रलोभन देकर बहका रहे हैं। दीर्घतम जीवन अनन्त की तुलना में है ही क्या ? सत्ता की सनातनता में पूरे विश्व का जीवन भी कितना है ? आप देवताओं को प्राप्त सुख की बात करते हैं; परन्तु वह सुख तो केवल ऐन्द्रिक ही है और सुखोपभोग केवल इन्द्रियों की शक्ति का क्षय है। आप मुझे इन सब सुखों का प्रलोभन देकर मेरे प्रश्न का उत्तर, जो कि देवताओं की बुद्धि से भी परे है, नहीं देना चाहते हैं। आप मुझे विश्व के रहते विश्व का स्वामी बनाना चाहते हैं; परन्तु जब यह विश्व नहीं रहेगा तब उस समय मेरा क्या होगा ? जबकि विश्व का अन्त हो जायेगा, यह नष्ट हो जायेगा, विलीन हो जायेगा तब उसके स्वामी की क्या परिणति होगी ? इसका भी तो अन्त होगा। भगवन्, लौटा लीजिए अपने ये सुख-भोग के उपहार, वैभव, ऐश्वर्य, धन, सम्पत्ति,

दीर्घ जीवन तथा तीनों लोकों का स्वामित्व ! प्रभो, आपने मुझे जो यह सब उपहार दिये हैं इसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ, परन्तु इन्हें लौटा लीजिए। यदि तीसरी बार पूछने पर भी इस नचिकेता को अपने प्रश्न का उत्तर प्राप्त नहीं हुआ तो यह आपके द्वार से नहीं हिलेगा।'

अब तक यह उपनिषद् की भूमिका थी। उपनिषद् तो वास्तव में अब आरम्भ होता है। वाजश्रवा गौतम का देवोपभोगों हेतु किया गया यह महान् यज्ञ मानवता के लौकिक कर्मों का समुच्चय था। जैसा कि मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ वस्तुतः यह उपनिषद् मानव के सम्पूर्ण जीवन के, आपके और मेरे जीवन के, प्रत्येक जीवधारी के जीवन के, रहस्य का आख्यान है। जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन मानव-जाति का प्रतीक है, उसी प्रकार यहाँ वाजश्रवस मानवता का प्रतीक है। वाजश्रवा गौतम द्वारा विश्वजित् यज्ञ का अनुष्ठान सामूहिक रूप से समस्त मानवों के कर्मों का अनुष्ठान है। मानव अपने कर्मों के परिणाम-स्वरूप प्राप्त आनन्द के उपभोग हेतु कर्म करता है। आप प्रातःकाल से लेकर सायङ्काल तक अपने कर्तव्य के विविध क्षेत्रों में कार्य क्यों करते हैं ? स्वयं को मानसिक तनाव से मुक्त करने के लिए ही तो। जिससे आप तनाव से मुक्त होने के उपरान्त प्राप्त होने वाले सुख और आनन्द का उपभोग कर सकें तथा जब तक सम्भव हो करते रहें। आप जो कार्य करते हैं, उसका प्रयोजन भी जानते हैं। आप इस जगत् में इसलिए कर्म करते हैं जिससे आप एक ऐसी अवस्था को पहुँच जायें जहाँ पहुँचकर फिर कोई कर्म न करना पड़े, प्रत्युत् कर्मफल का आनन्द भोग सकें। आपके सुख और आनन्द की क्या परिभाषा है ? कर्म के परि-

णाम-स्वरूप आप किस प्रकार के सुख की कल्पना करते हैं ? ठीक उसी प्रकार की कल्पना करते हैं जैसी वाजश्रवस ने की थी—'मैं स्वर्ग जाऊँगा, देवताओं के सङ्ग स्वर्गिक आनन्द का उपभोग करूँगा।' आदि-आदि।

जीवन को आनन्द से व्यतीत करने का अर्थ क्या है ? क्या आप मुझे बता सकेंगे कि जीवन के आनन्द से वस्तुतः आपका क्या आशय है ? आपके मन में इस आनन्द की कैसी कल्पना है ? यदि आपसे इसका उत्तर देने का आग्रह किया जाय तो आप यही तो कहेंगे कि इस सम्बन्ध में मेरे पास युक्तिसङ्गत और विज्ञानसङ्गत कुछ भी कहने को नहीं है; परन्तु ऐसा लगता है कि मेरी सुख की धारणा है संसार की समस्त अभीप्सित वस्तुओं पर अधिकार होना; अधिक से अधिक भौतिक सम्पत्ति, अधिक से अधिक संख्या में प्रियकर सम्बन्ध और इन सब का उपभोग करने के लिए कदाचित् इस देह की दीर्घतम आयु। इसके अतिरिक्त जीवन के आनन्द की और कौन-सी धारणा हो सकती है ?

वाजश्रवस की संकल्पना भी यही थी, यही हमारी भी है। मानव सदैव मानव ही है। वह कभी नहीं बदलता। सृष्टि के आरम्भ में वह जैसा था, आज भी वैसा ही है। उसी धातु का बना है। वह कभी नहीं बदलेगा। किसी व्यक्ति को थोड़ा-सा खरोंच कर देखिए, अन्दर वही तत्त्व मिलेगा। चाहे वह आदि युग का मानव हो, चाहे अधुनातन सभ्य एवं तथाकथित शिक्षित—सब एक ही धातु के बने हैं, एक-सी दुर्बलताएँ और एक-सी इच्छाएँ लिये हुए। अतः वाजश्रवा गौतम ने जो सोचा

था, आज भी हम वही सोचते हैं। जो उसकी नियति थी, हमारी भी वही होगी।

परन्तु हमारे भीतर कुछ और भी है, वह है एक चालना ो इस सांसारिक चालना से सर्वथा भिन्न है जो हमें इन्द्रिय-ाषयों की ओर ले जाती है। हमारे भीतर का यह अद्भुत त्त्व नचिकेता है। वाजश्रवा गौतम का पुत्र, ऋषि-सन्तति, ऋषि-आत्मा थी जिसने अपने हृदय के भाव को व्यक्त कर दिया। उपनिषद् की पौराणिक शब्दावलि में गौतम की आत्मा उसके पुत्र नचिकेता की वाणी में बोलती थी। जिस समय हम जीवन के शक्ति, यश और अधिकार के सुख के पीछे पड़े रहते हैं, हमारे अन्तर से बहुधा एक सूक्ष्म आवाज भी निकलती है जो हमें विकल करते हुए, अनेक बार हमारे अन्तर में झुँझलाहट पैदा करते हुए, ऐसी कुछ बात कहती है जो हमारी विचार-धारा से भिन्न होती है। यथा, वह कहती है—'तुम सांसारिक सुखों का उपभोग करने जा रहे हो और इसी उपभोग के लिए कर्म कर रहे हो।'

हम जिस प्रकार के कार्य कर रहे हैं, वे सभी मूलतः स्वार्थ-परक हैं। निःस्वार्थ कर्म के सम्बन्ध में हमने सुना बहुत है; परन्तु हमारे कायिक व्यक्तित्व को यह एक बड़ी अद्भुत बात लगती है।

हमारे दैनिक जीवन के समस्त कार्य किसी न किसी प्रकार व्यक्तिगत आनन्द, अहंपरक आनन्द से जुड़े हैं। जिस प्रकार ये सुख क्षणस्थायी तथा आदि और अन्त के साथ हैं, उसी प्रकार वे कर्म भी हैं जिनके परिणाम-स्वरूप सुख और आनन्द प्राप्त होते हैं। हमारे कर्मों का भी आदि और अन्त है। वे आरम्भ

होते हैं और कुछ काल अनन्तर उनका अन्त भी होता है। उनके द्वारा जो फल-प्राप्ति होती है, वह भी नाशवान् होती है। अतः हमारी लालसा संसार के इन शुष्क क्षणिक पदार्थों से कभी तृप्त होने वाली नहीं है।

कभी-कभी कुछ व्यक्तियों के जीवन में प्रायः प्रतिदिन ही ऐसे क्षण आते हैं जब अन्दर से कोई झकझोर कर कहता है कि 'तुम सर्वथा वही नहीं हो जो बाह्यतः दिखायी देते हो। तुम श्रीमान् अमुक या श्रीमती अमुक नहीं हो, सेवक या स्वामी जो प्रकटतः दिखायी देते हो नहीं हो,—न स्त्री, पुरुष या बालक हो जैसा कि व्यक्ति तुम्हें संज्ञा देते हैं।' अतः ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे अन्दर 'कुछ' ऐसा भी है जो उन वस्तुओं से कुछ भिन्न है जो इस पार्थिव जीवन में चरम मूल्य रखती हैं। वह 'कुछ' ही हमारे अन्तर से प्रायः कुछ कहता रहता है और हम चञ्चल हो उठते हैं। यदि हम अपने दैनिक जीवन में अशान्त या अस्थिर हो उठते हैं तो इसका अभिप्राय यह है कि हम ऐसी वस्तु से विनिर्मित हैं जो उस वस्तु से भिन्न है जिससे हमारी पार्थिव सत्ता की रचना हुई है। यदि हमारे दैहिक व्यक्तित्व और सामाजिक सम्बन्ध ही सब कुछ होते तब जीवन में इतनी अशान्ति व्याप्त न होती। हमारा दुःख, विषाद फिर चाहे वह किसी प्रकार का भी विषाद क्यों न हो, अरक्षा की भावना भी चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो, उसी तत्त्व से उत्पन्न होती है जिससे सत्ता की गहराइयों में निहित हमारा अन्तर्जगत् बना है और जो चेतना के धरातल पर पहुँचने के लिए यथा-शक्य प्रयत्न और सङ्घर्ष करता है; परन्तु जिस प्रकार वाजश्रवा गौतम ने अपने पुत्र के साथ व्यवहार किया—'तू बार-बार बोलता जा रहा है, जा नरक में चला जा।' यही हम अपनी

अन्तश्चेतना से कहते हैं, उसकी बात अनसुनी कर देते हैं, उसे चुप कर देते हैं और मृत्यु का शाप दे डालते हैं। यदि हमारी सूक्ष्म चेतना हमें सद् परामर्श देने लगती है तो हमें लगता है कि वह गलत कह रही है और हम उसकी उपेक्षा कर देते हैं, उसका गला काटने को उद्यत हो जाते हैं, उसे नरक में जाने का अभिशाप दे देते हैं और बोलने के लिए वर्जित कर देते हैं। निर्मूक ! तब वह हमारे अन्तर में क्रन्दन करने लगती है। हमारे अन्दर हमारी मूल-प्रकृति रुदन कर रही है कि वह बड़ी अभागी है। हमारे व्यक्तित्व की अनेक परतें (कोश) हैं। उपनिषद् में उसका बड़ा सुन्दर वर्णन है। इस सम्बन्ध में हम भी आगे बतायेंगे।

हमारे व्यक्तित्व की परतें बाह्य ब्रह्माण्ड की परतों के समान ही हैं जिन्हें काल और भाषा के वैविध्य के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा गया है। हम पूर्णतः पार्थिव जगत् से ही सम्बन्धित नहीं हैं, अपितु हमारे व्यक्तित्व की और भी परतें हैं जो इस भौतिक जगत् के धरातल से सम्बन्धित नहीं हो सकतीं। जैसा कि हम प्रायः कल्पना करते हैं—हम सामाजिक व्यक्ति मात्र ही नहीं हैं। हमारे सम्बन्ध माता-पिता, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पुत्री, भाई-बहन, स्वामी-सेवक आदि के ही नहीं हैं। हमारे अन्तर में कुछ ऐसे भी रहस्य हैं जिन्हें हम नहीं समझते और न समझ सकते हैं। इसका आशय है कि हमें स्वयं अपना ही ज्ञान नहीं है। वर्तमान स्थिति में हो भी नहीं सकता। उच्च श्रेणी की जिस क्षमता का वरदान हमें मानव होने के नाते मिला है, वह है बुद्धि, परन्तु यह बुद्धि भी सतही है। इससे हम गहरे में नहीं जा सकते। अतः हमें अपने व्यक्तित्व की अन्य परतों का—जो दिखायी देने वाली परत से कहीं अधिक वास्त-

विक हैं—ज्ञान नहीं है। यह दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे व्यक्तित्व के अदृश्य तत्त्व हमारे बाह्य व्यक्तित्व के दृश्यमान तत्त्वों से कहीं अधिक वास्तविक हैं। असली 'मैं', 'तुम' या 'हम' इन्द्रियों के सङ्ग मिलकर कार्य करने वाली बुद्धि को नहीं दिखायी देते। अतएव जब आप संसार को देखते हैं तो आपको वास्तविक संसार दिखायी नहीं पड़ता। जब आप अपने सम्बन्ध में चिन्तन करते हैं तो उस समय आप वास्तविक अपनेपन के सम्बन्ध में विचार नहीं करते। दूसरों के साथ आपका जो सम्बन्ध है, उस पर विचार करते समय भी आप जो वास्तविक सम्बन्ध है उस पर विचार नहीं करते। आपके ये प्रेम, स्नेह और प्यार तथा घृणा के रूप में दूसरों के साथ जो नाते-रिश्ते हैं, वे सब गलत धारणा की मूल और शाखाएँ हैं। इस विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलता है कि हमारी समस्त क्रियाएँ जीवन के सम्बन्ध में बनी नितान्त गलत धारणा के परिणाम हैं। यदि दशा ऐसी ही रही तो हमारा क्या होगा—कल्पनातीत है। यदि गलत धारणा की यह विषम स्थिति अनन्त काल तक बनी रही तो हमारी क्या दशा होगी, क्या नियति होगी—कह नहीं सकते।

जो स्वयं को नहीं समझ सकता वह दूसरों को भी नहीं समझ सकता; क्योंकि व्यक्ति में दूसरों को समझने की शक्ति उसकी एक क्षमता है। यदि वह दूसरों को जाँचने का साधन है तब उसमें त्रुटि होने से आपके दूसरों से सम्वन्ध भी त्रुटिपूर्ण होंगे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आपका ससार-सम्वन्धी ज्ञान भी भ्रामक है। जव आप स्वयं को नहीं समझते, दूसरों को नहीं समझते, तव आप विश्व की सत्यता भी नहीं समझ सकते। इस प्रकार हमारे समस्त जीवनानुभव भ्रान्त

धारणारूपी मेघों से आच्छन्न हैं जिन पर शोक ही शोक और दुःख ही दुःख की परतें जमती चली जाने से इस जीवन में मानो व्यथा ही साकार हो गयी है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं:—

'अनित्यमसुखं लोकम्'—(गीता : ९-३३)।

संसार क्या है? हम नहीं जानते यह कब प्रारम्भ हुआ और कब इसका अन्त होगा? हमारे अनजाने में ही यह प्रति-क्षण परिवर्तित हो रहा है। इसलिए कहा है कि संसार असुख (सुखहीन) है। दुःख क्यों है? क्योंकि सुख-दुःख सम्पृक्त अनु-भव सर्वथा भ्रान्त धारणा पर टिके हैं। बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, दायें-बायें—सर्वत्र ही एक ऐसा संसार है जिसकी हमने गलत धारणा बनायी हुई है।

कठोपनिषद् हमारे तमसावृत अज्ञान के इस दुर्ग को तोड़ डालता है तथा हमारी भ्रान्त धारणाओं की तमस-यवनिका को विदीर्ण करके वस्तु-स्थिति के मर्म तक ले जाकर हमें अमर सत्ता, नित्य जीवन तथा असीम सन्तोष की अलौकिक भूमिका पर प्रतिष्ठित कर देता है।

कितना अद्भुत है यह उपनिषद्!

प्रभु आप सबको इस दिव्य ज्ञान से सम्पन्न करें!!

द्वितीय प्रवचन

हम पहले ही बता चुके हैं कि हमारे वर्तमान अनुभव गलत धारणाओं पर बने हुए हैं। उन अनुभवों को लक्ष्य में रखकर ही कठोपनिषद् का आरम्भ होता है। जब साधक नचिकेता यम के द्वारा प्रस्तावित अमूल्य पदार्थों को भी अस्वीकार करके शरीर के विघटन के उपरान्त जीवात्मा का क्या होता है, अपने इसी प्रश्न का व्यावहारिक उत्तर पाने का हठ ठाने रहा तो यमाचार्य नचिकेता में इस परम ज्ञान को प्राप्त करने वाले अधिकारी शिष्य के स्वरूप को पहचान कर प्रश्न के मर्म तक पहुँचता है।

अनुभव के दो पक्ष होते हैं जो व्यक्ति को दो विभिन्न दिशाओं की ओर खींचते हैं—

'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते।'

—क० १-२-२

यमराज का यह प्रथम उपदेश था। मानव-मन दो दिशाओं की ओर जाता है—अन्तर की ओर और बाहर की ओर।

बहिर्मुखी पथ इन्द्रिय-सुख का है तथा आन्तरिक पथ सत्य की खोज का है। इस शिक्षाप्रद श्लोक में प्रेय और श्रेय दो शब्दों का प्रयोग किया गया है जो क्रमशः इन्द्रियजन्य सुख और दिव्य कर्म (परमार्थ) के सूचक हैं। मानव-मन सदा तात्कालिक परिणाम के पीछे दौड़ता है। वह चरम मूल्यों की उतनी चिन्ता नहीं करता। अभी इस क्षण क्या लाभ होगा ? इसकी चिन्ता है। कल की कौन जाने ? कल फाँसी भी लग सकती है; अतः आज तो सन्तुष्ट हो लूँ। यह मानव-मन का और कदाचित् सृष्टि में सभी प्रकार के मन का एक सामान्य तर्क तथा इच्छा है। यदि मन सोचता है कि इन्द्रिय-विषयों के सम्पर्क में आकर समस्याओं का समाधान हो जायेगा तो यह उसकी निरी भूल है। इन्द्रियों के विषय तो केवल तात्कालिक तुष्टि देते हैं।

तात्कालिक सन्तोष भी आखिर है क्या ?

सन्तोष कई प्रकार के होते हैं। किसी प्रबल कामना के वशीभूत होने पर उसकी पकड़ से बाहर होना भी, लगता है, एक प्रकार का सन्तोष है। यदि ऋणदाता आकर द्वार पर बैठा हो तो उसका लौट जाना भी सन्तोषप्रद है; क्योंकि उसकी उपस्थिति आपके मन पर एक बड़ा भार बनी रहती है। आपके नाम कचहरी का वारण्ट लेकर कोई अमीन आपको पूछता हुआ घर आ जाये तो उस भद्र व्यक्ति का कुछ क्षणों को चला जाना भी आपको सन्तोषदायक प्रतीत होगा। इसी प्रकार यदि आपके शरीर भर में असाध्य एक्जिमा (Eczema) हो गया हो, उसमें खुजली मच रही हो, तब उसे खुजलाने में ही सन्तोष मिलेगा। आपने कई दिनों से भोजन नहीं किया हो,

क्षुधाग्नि भड़क रही हो, आप भूख से तड़प रहे हों, तो ऐसे समय भोजन कर लेने से आपको बड़ा सन्तोष मिलेगा। आप किसी पर क्रोध से उबल रहे हैं। इस क्रोध को जब आप अप-शब्दों में व्यक्त कर देते हैं तब आपका चित्त शान्त हो जाता है। अतः सन्तोष के अगणित प्रकार हैं। हम जिन असाध्य लालसाओं के शिकार हैं, उन लालसाओं द्वारा उत्पन्न स्नायविक एवं मानसिक तनाव से ये सन्तोष हमें मुक्त कर देते हैं।

हम स्वामी न होकर दास हैं; इसी कारण सन्तोष होता है। हमारे भीतर से जो एक अदम्य शक्ति उठती है और प्रत्येक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व रखती है, हम उसी के अधीन हैं। अतः मानव-सन्तोष और कुछ नहीं, किसी विशेष चालना, तीव्र लालसा के सामने घुटने टेक देना है। फिर चाहे वह लालसा स्नायविक, मानसिक, भावनात्मक अथवा इच्छा-शक्ति सम्बन्धी ही क्यों न हो, आप उसके वशीभूत हो जाते हैं। उसके समक्ष झुकना एक प्रकार का सन्तोष देता है। समस्या हल करने का यह नकारात्मक तरीका है। ऋणदाता के सामने से चले जाने मात्र से समस्या हल नहीं हो जाती। वारण्ट लाने वाला अमीन यदि आपको किसी एक दिन नहीं खोज पाता तो उसका यह अर्थ नहीं कि समस्या समाप्त हो गयी। आप दिन भर खुजलाते हैं, इसका भी यह आशय नहीं कि आ[illegible] का रोग दूर हो गया। आप प्रतिदिन भोजन कर रहे हैं, पर[illegible] इससे आप मर्त्य नहीं रहे, ऐसा नहीं समझ सकते। ह[illegible] समस्याओं का समाधान खोजते नहीं हैं; क्योंकि हमें ऐस[illegible] प्रतीत होता है कि समाधान हमसे परे है; अतः हम आत्म वञ्चना की शुतुरमुर्ग वाली नीति अपनाते हैं। रेत में मुँ[illegible] छिपाने मात्र से वह समझ लेता है कि वह छिप गया है औ[illegible]

उसे कोई देख नहीं रहा है जबकि उसका अधिकांश भाग, जो बालू से बाहर रह जाता है, दिखायी देता ही रहता है।

मानव-मन वास्तव में मूढ़ है। वह समझता कुछ नहीं; परन्तु सर्वज्ञान और सर्वज्ञाता का अहं रखता है। मन की इस अभिवृत्ति—अज्ञानी होते हुए भी स्वयं को सर्वज्ञाता समझ लेने की अभिवृत्ति से अनिष्टकर कुछ भी नहीं है। इसी अभिवृत्ति को अहङ्कार कहते हैं। अभिमान भी इसे ही कहते हैं। स्वयं को वह मान बैठना जो आप नहीं हैं, अहङ्कार है; परन्तु समस्त जीवन भी तो केवल इसी प्रकार का झूठा प्रदर्शन है। यदि हम वस्तु-स्थिति की जाँच करें तो विदित होगा कि अपने प्रत्येक कार्य और अभिवृत्ति में, यहाँ तक कि अभिव्यञ्जना, वाणी और व्यवहार में भी, हम मूलतः दिखावटी और छद्म-वेशी हैं। हम स्वयं को अभिव्यक्त नहीं करते; क्योंकि हमारे असली व्यक्तित्व की वह अभिव्यक्ति उस सन्तोष के विरुद्ध पड़ती है जिसे हम विषयों से पाना चाहते हैं। मनोविश्लेषक कहते हैं कि हमारा मन मनसजात मेघों से आच्छादित है। फ्रायड्, एडलर, जुङ्ग जैसे सुप्रसिद्ध प्राच्य मनोविश्लेपकों ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है कि मनः पटल पर वर्द्धित होते हुए तत्त्वों द्वारा मानव-मन किस प्रकार आच्छादित हो जाता है और अन्ततः किस प्रकार वह आच्छादन ही वास्त-विकता, प्रधानता पा लेता है तथा मन महत्वहीन, गौण कुञ्जी की तरह बनकर रह जाता है—इसे संस्कार कहते हैं,—प्रत्यक्ष ज्ञान, मानसिक ज्ञान, इच्छा आदि के संस्कार।

कठोपनिषद् का वह महान् गुरु जब कहता है कि प्रेय को मानना बुद्धिमानी नहीं, मूर्खता है तो उस समय वह मन की

दारुण दशा की ओर ही सङ्केत करता है। सांसारिक सु
की माँग ज्ञान नहीं है। ज्ञान श्रेय-स्वरूप है। कामनाओं
मानसिक दबाव के अधीन होने में हमारा कल्याण या हमा
वास्तविक उन्नति नहीं है; प्रत्युत् उन कामनाओं के नियन्त्र
अथवा स्वामी बनने में है।

मनोविश्लेषण-विज्ञान का कहना है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्र
जैसी कोई चीज नहीं है। हम अपनी विवशता और ती
कामनाओं को ही भ्रम से इच्छा-शक्ति की स्वतन्त्रता सम
लेते हैं। हमें इस विषय में प्रवेश नहीं करना है; परन्
विषयान्तर होते हुए भी इस सम्बन्ध में इतना तो जान ही लेन
है कि हम अन्तर से ऐसी मनोवैज्ञानिक शक्ति के, जिस
सम्बन्ध में हमें किञ्चित् भी ज्ञान नहीं है, कितने अधीन ह
जाते हैं। सम्मोहन की दशा इसका एक प्रत्यक्ष दृष्टान्त है
किसी चिकित्सक के द्वारा सम्मोहित कर दिये जाने की दशा मे
रोगी को प्रतीत होता है मानो वह अपनी इच्छा से कार्य कर
रहा हो। वह यदि किसी ओर जाता है या उद्विग्नता से
बोलता है तो उसका उसे ज्ञान नहीं रहता। यदि आप पूछने
लगें, 'उस दिशा को क्यों जा रहे हो?' वह कहेगा, 'मेरी
इच्छा।' उसे इसका ज्ञान कदापि नहीं है कि वह सम्मोहन
की अवस्था में होने के कारण चिकित्सक की इच्छा द्वारा चल
रहा है। अतः कम-से-कम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि
से स्वतन्त्रता कल्पना मात्र है। इसका कोई अस्तित्व ही नहीं
है। आप अपने कार्य की पृष्ठभूमि के विस्मरण को इच्छा की
स्वतन्त्रता मान बैठे हैं और जानबूझ कर उसका प्रयोग कर
रहे हैं। आप प्रतिदिन मन-पसन्द भोजन करते हैं। उसके
लिए आपको कोई बाध्य नहीं करता। अतः आप कह सकते

हैं कि प्रतिदिन जो भोजन, नाश्ता, जलपान आदि लेते हैं, वह आपकी स्वतन्त्र इच्छा का कार्य है, परन्तु ऐसा नहीं है। आप उसे करने को बाध्य हैं। क्यों? क्योंकि भूख और प्यास के रूप में आपके भीतर रुग्णता पैदा हो गयी है। आप इसे स्वतन्त्र इच्छा का कार्य नहीं कह सकते। भोजन के पदार्थों का चुनाव तक व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक रचना और अवस्था पर निर्भर करता है।

योग-साधक को अपना मन समझने के लिए मनोविज्ञान में निष्णात होना चाहिए। योगाभ्यास के लिए मन की क्रिया-शीलता का ज्ञान होना चाहिए। यदि आप मन के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते तो योग आपसे बहुत दूर है। अविवेक से किसी प्रकार की पूर्वधारणा, पूर्वाग्रह अकारण ही नहीं बना लेने चाहिए। अपने मन के विश्लेषण में दक्ष होना चाहिए।

यम कहते हैं कि हम आमोद-प्रमोद को स्वतन्त्र कार्य मान लेते हैं; परन्तु यह मान्यता सत्य से बहुत दूर है। ज्ञानी प्रेय (इन्द्रिय-सुख) के स्थान पर श्रेय को अङ्गीकार करता है। श्रेय और प्रेय दोनों तुम्हें प्राप्त हो सकते हैं। दोनों तुम्हारे समक्ष हैं। तुम दोनों में से किसी एक को चुन सकते हो। मानव उत्थान और पतन दोनों के लिए स्वतन्त्र है। भगवान् ने मानव को ये दो वरदान दिये हैं, प्रेय और श्रेय दोनों आपके अधीन हैं। अमृत और विष दो चषकों में आपके समक्ष प्रस्तुत हैं। आप जिसका पान करना चाहें करें; परन्तु विष भरा सुन्दर चषक अधिक आकर्षक है। अमर करने वाले अमृत से पूर्ण परन्तु आवृत चषक में उतना आकर्षण नहीं है। सत्य छिपा हुआ है। सांसारिक प्रपञ्च प्रकट है, दिखायी देता है।

सत्य की खोज का धुनी आत्यन्तिक परम सत्य को चुनता है वह उसे नहीं चुनता जो तत्क्षण मूल्यवान् प्रतीत होता है। ज्ञान की खोज में, अभ्यास में लगे रहते हुए आपको ध्यान रखना है कि कहीं आप इस प्रपञ्च में न उलझ जायें। अंग्रेजी कहावत है: 'दमकने वाली सभी वस्तुएँ स्वर्ण ही नहीं होतीं।' सत्य स्वर्ण-पात्र से ढका हुआ है। बाह्य रूप भ्रामक है। किसी पुस्तक का मुख-पृष्ठ और जिल्द देखकर ही उसकी कीमत नहीं आँकी जा सकती; परन्तु मानव-नियति यही है।

इन्द्रियों के विषय-कामनाओं के अधीन होने के कारण व्यक्ति में दोषपूर्ण अभिवृत्ति का विकास होता है जिससे वह लोकोत्तर सत्ता को नकारने लगता है।

'न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अ ं लोक नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥'

—कठ० १-२-६

मनुष्य अहङ्कारी व्यक्ति है। वह केवल इन्द्रिय-जन्य ज्ञान तक ही सीमित है और संसार को ही सत्य मानता है। वह दृश्य जगत् के परे या पृष्ठ में किसी सत्ता को नहीं मानता। इन्द्रियाँ कहती हैं, 'जगत् ही सब कुछ है। उससे इतर कुछ भी नहीं है।' यदि मानव पूछता है कि तुम ऐसा क्यों कहती हो? तो इन्द्रियों का प्रत्युत्तर है, 'क्योंकि इसके अतिरिक्त हम कुछ नहीं देखतीं।' तब मानव भी कहने लगता है, 'जो दिखायी देता है, वही सत्य है। जो दिखायी नहीं देता, वह सत्य नहीं है।' परन्तु हमारे दुर्भाग्यवश सत्य इसके सर्वथा विपरीत है। अदृश्य सत्य है, दृश्य सत्य नहीं है।

दृश्य जगत् कार्य-कारण का समुच्चय है। हम जिस संसार को देखते हैं, जो विषय हमारी इन्द्रियों के समक्ष प्रस्तुत होते हैं तथा जितने भी ठोस और स्थूल पदार्थ हमारे सामने हैं, वे वस्तुतः उस प्रकार के नहीं हैं जैसे हमें दिखायी देते हैं। इन्द्रियों द्वारा जो अनुभव प्रस्तुत किया जाता है, वह और कुछ नहीं, केवल प्रतिक्रियाओं का जाल है। मन और इन्द्रियों के विषय-सम्पर्क से किस प्रकार प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं उससे हमारी चेतना में भ्रम पैदा हो जाता है। गहराई वहीं दिखायी देती है जहाँ धरातल समतल होता है, जैसे चित्रपट पर। उसमें केवल एक सपाट परदा होता है जिसमें न गहराई होती है, न त्रि-आयामीय चित्र, परन्तु जब आप चलचित्र देखने जाते हैं, आप वहाँ त्रि-आयामीय व्यक्तित्व और गति देखते हैं। परदे का केवल बाहरी तल ही होता है, परन्तु आप उसपर प्रक्षिप्त मीलों की दूरी देख सकते हैं। वह केवल दो आयामीय (लम्बाई-चौड़ाई वाला) होता है। यदि आपने नतोदर या उन्नतोदर काँच का विशेष प्रकार का चश्मा लगा रखा है तो आप समतल भूमि को भी ऊँचा-नीचा देखेंगे। अतः आपकी दृष्टि विश्वसनीय नहीं है। यदि आपके शरीर के तापक्रम की डिग्री में अन्तर आता है तो आपकी जिह्वा एक दूसरी बात कहेगी। स्वाद और दृश्य, श्रवण और स्पर्श, सुगन्ध आदि ज्ञान देने के विश्वसनीय साधन नहीं हैं; क्योंकि किसी एक समय में विषय और ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क से जो विशिष्ट प्रतिक्रिया घटित होती है, उसमें वे केवल भ्रामक अनुभव पैदा कर देते हैं। इसीलिए हम कहते हैं कि जगत् सापेक्ष है। वह इसी अर्थ में सापेक्ष है कि प्रत्येक अनुभव किसी-न-किसी कारण पर निर्भर करता है। यह जगत् एक या दो कारणों से निर्मित

नहीं हुआ, किन्तु शत-सहस्र घटकों से बना है। जिस प्रकार वस्त्र का एक टुकड़ा अनेक धागों से बना होता है—वस्त्र एक धागे से नहीं बन सकता—उसी प्रकार जगत् भी एक प्रकार के अनुभव या एक ही सोपाधिक कारण से नहीं बना है। मानव-मन केवल इन्द्रिय-ज्ञान-सम्पन्न होने के कारण अनुभव के एक ही पक्ष को पकड़ सकता है। वह अन्य तत्त्वों को, जो इस प्रकार के अनुभव में योग दे सकते हैं, पूर्णतः भूल जाता है। चिकित्सक बतलाते हैं कि किसी प्रत्यक्ष बीमारी का केवल एक ही कारण नहीं होता है, बल्कि शरीर के भीतर हमारे अनजाने में ही क्रमशः वर्द्धित होने वाले उसके कुछ सामूहिक कारण होते हैं। आप अचानक बीमार नहीं पड़ते। यह स्थिति धीरे-धीरे सप्ताहों या महीनों तक लगातार अस्वस्थ रहने पर क्रमशः आती है; अतः यह कोई आकस्मिक अनुभव नहीं है। अखिल ब्रह्माण्ड नियन्त्रक तत्त्वों से विनिर्मित हुआ है। यदि आप इसे सृष्टि कहना ही चाहते हैं तो यह अखिल सृष्टि भगवान् द्वारा सृजित पूरा एक ही नमूना है। इसका एक भी तत्त्व अन्य तत्त्वों से पृथक् नहीं हो सकता।

प्रत्येक घटना एक सार्वभौम घटना होता है। विश्व के किसी एक कोने में घटित होने वाली स्थानीय घटना जैसी कोई चीज नहीं होती। आप नहीं कह सकते कि अमुक घटना किसी शहर या शहर के मोहल्ले में ही घटित हुई। ऐसी बात को सत्य नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक अनुभव, प्रत्येक घटना, प्रत्येक कार्य सार्वभौमिक होता है, सापेक्ष रूप से सर्वत्र घटित होता है। प्रत्येक रोग शरीर के अनेक रोगों का योग है, केवल नाक, आँख या पैर का रोग नहीं। यदि नासिका से एक छींक भी आती है तो उसका भी कारण सम्पूर्ण व्यक्तित्व

। रुग्णता है। इसी प्रकार प्रत्येक अनुभव एक सार्वभौमि
पेक्ष घटना होती है; परन्तु मन द्वारा इस देह को ही पू
त्य मान लेने के कारण हमें उसका ज्ञान नहीं हो पाता। श्री
द्भगवद्गीता इसे तामसिक ज्ञान कहती है :

'यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥'

—गीता : १८-

अंश को अंशी मान लेना, देह को सत्य मान लेना
स्थानीय अनुभव को परम अनुभव मान लेना निकृष्ट
है। यह ज्ञान नहीं कहा जा सकता। यह अज्ञान-रूप है।
अज्ञान पर हमारा इन्द्रियजनित आनन्द निर्भर करता
परन्तु जब आप इस आनन्द को ही सत्य मानने की भूल
बैठते हैं तब आप ईश्वर को तथा लोकोत्तर सत्ता को अस्वी
कर देते हैं। 'न साम्परायः प्रतिभाति बालं (क० १-२-
जो व्यक्ति लोकोत्तर सत्ता को अस्वीकार कर इस संसार
ही सब कुछ मानकर स्वीकारता है, उसका मन बड़ा ही
काना (अबोध) है।

इस अज्ञानता का क्या परिणाम होगा? पुनः-पुनः
गमन के चक्र में, जन्म-मृत्यु के जाल में फँसना। विश्व के
से अविज्ञात रहने का दण्ड जन्म और मृत्यु के रूप में
है। शासन-संहिता के अनुसार कानून से अनजान रहन
नीय होता है। विश्व की व्यवस्था भी व्यक्तियों को
करनी है। जिस प्रकार सुधार हेतु व्यक्तियों को दण्ड
जेल अथवा सुधार-शालाओं में भेजा जाता है, उसी प्रका

व्यवस्था भी आवागमन, जन्म-मृत्यु के रूप में सबको दण्डित करती है। जन्म-मृत्यु और कुछ नहीं, विश्व-संस्थान में अनुभव और प्रशिक्षण की प्रक्रियाएँ हैं जिससे जन्म-मृत्यु की आवृत्तियों से आप अनुभव प्राप्त करें और प्रतीयमान जगत् से क्रमशः विमुख होकर, जो सत्य है उसकी ओर गतिशील हों।

इस उपनिषद् का प्रतिपाद्य सत्य की ओर मानव के आरोहण की विभिन्न भूमिकाओं का विवेचन है। भगवद्गीता के समान यह भी एक अद्भुत ग्रन्थ है जिसमें परम सत्य की विभिन्न परिमाण में उपलब्धि और इन विभिन्न परिमाणों द्वारा पूर्ण सत्य तक पहुँचने की विधि की व्याख्या की गयी है। इसमें वाजश्रवा गौतम का यज्ञ, बालक नचिकेता की अपने पिता के दान और उदारता के सम्बन्ध में भावना, नचिकेता की आत्मा का यम के द्वार पर पहुँचना तथा तीन दिन तक निराहार रहना, तीन दिन तथा तीन रात के अनन्तर यम का आगमन तथा तीन विशिष्ट प्रकार के वर प्रदान करना, इस सन्दर्भ में यम द्वारा दिये हुए महा-उपदेश—इन सब में आत्मा के निराकार ब्रह्म तक आरोहण के विभिन्न सोपानों का वर्णन है।

प्रथम सोपान है विश्व के मूल्यों के प्रति मन का बहिर्मुखी अभिगमन, बाह्य जगत् को अन्यतम मान लेने की भूल करना। इस तथ्य को वाजश्रवस के यज्ञों द्वारा बताया गया है। प्रत्यक्ष जगत् को स्थूल रूप में वास्तविक मान लिया जाता है और मरणोपरान्त जीवन को वर्तमान जीवनानुभवों की भव्य अनुकृति समझ लेते हैं। अतः इस जगत् में प्राप्त होने वाले इन्द्रिय-सुखों का प्राचुर्य स्वर्ग मान लिया जाता है और हम देवलोक

के इसी प्रकार के सुखों की आकांक्षा करते हैं। आज हम जो कर रहे हैं, अनुभव की उसी भाषा में ईश्वर या सृष्टिकर्ता की भी कल्पना करते हैं। यही कारण है कि वाजश्रवा गौतम ने इन्द्रियों द्वारा ही स्वर्गिक सुख पाने की अभिकांक्षा की थी। वह सोचता था कि दिखावटी दान का यन्त्रवत् किया हुआ कर्म इस प्रकार के इन्द्रिय-सुख को प्राप्त करा देगा। वह अपनी समस्त वस्तुओं का त्याग करने को तत्पर नहीं था। मनुष्य के अहं को इतना कष्टदायी कुछ नहीं लगता जितना अपने सुखों को तिलाञ्जलि देना। हमारा अहं इहलोक में भी और परलोक में भी इन्द्रिय-सुख और सन्तोष पाना चाहता है। धर्म-ग्रन्थ कहते हैं, 'दान करो जिससे परलोक में सुखी हो सको।' तब खोटे सिक्के या फटे नोट, जो कहीं भी नहीं चलते; को दान-स्वरूप देने का प्रयत्न करते हैं और सोचते हैं कि दान कर रहे हैं। आपने दान भी किया और कुछ दिया भी नहीं, कुछ त्याग भी नहीं किया। इतना ही नहीं, बल्कि बहुधा आप अपने प्रियजनों को ही दान देते हैं। अपने कालेज में पढ़ने वाले पुत्र को दान देते हैं। यदि पत्नी के लिए अच्छी-सी सुन्दर साड़ी लायें तो यह भी आपकी दृष्टि में बहुत बड़ा दान है। बर्तन मांजने वाले अपने गरीब सेवक को दस पैसे दे देते हैं और आपकी दृष्टि में यह दान है; परन्तु इस प्रकार का दान कुछ महत्व नहीं रखता। वाजश्रवस गौतम ने भी इसी प्रकार का स्वार्थपूर्ण दान दिया था। अज्ञानावस्था में मानव-मन की नियति का प्रस्तुत उपनिषद् में बड़े सुन्दर ढङ्ग से वर्णन किया गया है।

नचिकेता की चेतना में मन इस स्तर से उठकर जीवन की सार्थकता खोजता है और दृश्य जगत् की अनित्यता के रूप में

उस सार्थकता को बताने वाला गुरु उसके समक्ष उपस्थित हो जाता है। मृत्यु सबसे बड़ी शिक्षक है। अतः कठोपनिषद् के महागुरु यम हैं। सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता के अनुभव से आपको जो शिक्षा मिलती है, उससे उत्तम कहीं नहीं मिलेगी। जिस समय आपका सब कुछ खो जाता है और आप के जीवन की बाजी लग जाती है, उन क्षणों में आपको जो शिक्षा मिलती है, वह विश्वविद्यालयों में प्राप्त होने वाली शिक्षा से कहीं उत्तम है। आप राष्ट्रों के इतिहास मे पढ़ेंगे कि किस प्रकार राजनैतिक क्रान्ति में जनता अपना सब कुछ खो देती है। उस समय उसे जो सीख मिलती है, वह जीवन भर के लिए पर्याप्त होती है। पदार्थों की क्षणिकता जीवन में निहित शाश्वत मूल्य के अस्तित्व का सङ्केत देती है। यही कारण है कि यम कठोपनिषद् के रङ्गमञ्च पर आते हैं। राजनैतिक पराजय में सब खो देने की तरह जब आप जीवन का सब कुछ खो देते हैं तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जीवन की कोई सार्थकता नहीं। सब चला गया, सम्बन्धियों को भी खो दिया, सम्पत्ति भी खो दी। जीवन की सुरक्षा का भी कोई भरोसा नहीं। ऐसी दशा में व्यक्ति की स्थिति अत्यन्त भयङ्कर और दुःखद हो जाती है जिसका अनुमान ग्रन्थों के अनुशीलन अथवा प्रवचनों के श्रवण द्वारा नहीं किया जा सकता। भुक्तभोगी ही जान सकता है कि वस्तुतः यह है क्या? इतने पर भी हम नहीं सीखते। थोड़ी अच्छी दशा में हो जाने पर हम पुनः उसी पुराने ढर्रे से सोचने लगते हैं अर्थात् जब यम अपने दण्ड द्वारा आपको धमकाता है, तब आप एक क्षण को भयभीत हो ईश्वर की शरण चाहने लगते हैं, लेकिन जैसे ही यम-दण्ड हटा, आप पुनः पुराने विचारों की मोहित करने वाले इन्द्रिय-सुख की लीक पर चलने लगते हैं। यह नचिकेता के जीवन में भी घटित

हुआ। यद्यपि योग के महागुरु योगेश्वर रूप में यम स्वयं आते हैं, परन्तु फिर भी नचिकेता जैसे सुपात्र को ज्ञान तत्क्षण नहीं दिया जाता। यह नहीं कि गुरु के पास जाते ही शिष्य तत्काल कहने लगे, 'अभी ज्ञान दे दीजिए; क्योंकि मुझे सायङ्काल की ट्रेन पकड़नी है।' ऐसे अनेक साधक हैं जो यहाँ इस आश्रम में भी आकर पूछते हैं, 'मेरे पास केवल आध घण्टा ही समय है। क्या आप योग के सम्बन्ध में कुछ बता सकते हैं?' इस प्रकार का योग आपको कहीं नहीं ले जा सकेगा। आप पहले ट्रेन पकड़ लें, तब आयें। यह यान्त्रिक (यन्त्रवत्) और व्यावसायिक योग किसी अर्थ का नहीं है, केवल मूर्खतापूर्ण प्रयास और स्वयं भगवान् की ही खिल्ली उड़ाना है।

जब नचिकेता जैसे उत्तम कोटि के साधक को भी यह ज्ञान प्रदान नहीं किया गया, तब द्वितीय और तृतीय कोटि के साधकों की तो बात ही क्या! और हम तो उससे भी नीचे हैं। नचिकेता सर्वोत्तम कोटि का साधक था; लेकिन तब भी यम ने उससे इस सम्बन्ध में न बोलने और कुछ न पूछने का आग्रह किया। 'चुप हो जाओ, मत पूछो', और उसे दिया क्या गया? प्रलोभन! विश्व-सम्पदा का प्रलोभन!! बुद्ध को प्रलोभन दिया गया था, ईसा को भी। इस प्रलोभन से कोई छुटकारा नहीं पा सकता। इसका यह आशय नहीं कि योग के प्रत्येक साधक को उन्हीं एक ही प्रकार के समान प्रलोभनों के मध्य से गुजरना है; अतः सब को इन प्रलोभनों की सूची बनाकर इन्हें स्मरण रखना चाहिए। नहीं, कदापि नहीं। यद्यपि प्रलोभनों की पृष्ठभूमि एक समान ही होती है, परन्तु वे नाना रूपों में प्रकट होते हैं। भूख प्रतिदिन लगती है, सभी को समान रूप में लगती है; परन्तु सब व्यक्ति एक ही प्रकार का भोजन नहीं

करते। भोजन की पसन्द आपकी रुचि और शारीरिक अवस्था के अनुसार होगी। इसी प्रकार योग-पथ में प्रलोभन तो आते ही हैं; परन्तु वे जिस रूप में आते हैं उसमें विविधता है। विभिन्न व्यक्तियों के सामने विभिन्न प्रकार के प्रलोभन आते हैं। अतः जिस प्रलोभन का मुझे सामना करना पड़ सकता है, हो सकता है कि आपको उसका सामना न करना पड़े। आप यह भी नहीं कह सकते कि कल आपको किसका सामना करना पड़े ?

सत्य की खोज में सामने आने वाले जिन प्रलोभनों का उल्लेख हमारे धर्मग्रन्थ करते हैं, वे और कुछ नहीं,—मन और इन्द्रियों की इच्छाओं से उत्पन्न प्रतिक्रियाएँ हैं। अनुभव हेतु विवेक-शक्ति के उदय होने पर भी इच्छाएँ नहीं जातीं, निःशेष नहीं होतीं। हो सकता है आपको अभीप्सित सत्य का ज्ञान हो गया हो, हो सकता है आप में विवेक-शक्ति का ज्ञान उदय हो गया हो, इस दृश्य जगत् के प्रति वैराग्य-भावना तीव्र हो उठी हो, लेकिन इसी से नहीं होगा। इतना ही पर्याप्त नहीं है। मानव का व्यक्तित्व बहुत गूढ़ है—उसके प्रकट स्वरूप से कहीं अधिक गूढ़। इन्द्रिय-विषयों के स्थूल सम्पर्क से विमुख होने का अर्थ वैराग्य नहीं है। एकान्त में रहकर यदि आपने स्वयं को स्थूल विषयों से अलग रखा है, तब भी उनकी वासना तो शेष रह ही जाती है। वस्तुओं को पसन्द करना मानसिक व्यापार है और यह वस्तुओं के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने से भिन्न है। अतः चाहे आप बद्रीनाथ, केदारनाथ जैसे पवित्र स्थलों पर ही क्यों न हों, मन में विगत सुख का चिन्तन करते रहेंगे, चाहे अन्तर में कल्पना यही करते हों कि आप उनसे दूर हैं। विषय-रस समाप्त नहीं होता चाहे आप विषय से कितनी ही दूर क्यों न हों। इसकी भर्त्सना करते हुए ही गीता कहती है :

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥'

—गीता : ३-६

ो साधक वैराग्य या तप के नाम पर विषयों से तो ों को हटा लेता है, परन्तु मन से किसी-न-किसी रूप में चिन्तन करता रहता है, उसके सभी प्रयत्न निष्फल रह हैं। उसे सफलता नहीं मिलती। पति पत्नी से दूर हो; उसका चिन्तन करता रहे; माँ पुत्र से दूर हो, परन्तु मन विषय में ही सोचता रहे तो सन्मार्ग में ऐसे आचरण ई लाभ नहीं। स्थूल रूप में सम्पर्क रखने की अपेक्षा मन में किसका चिन्तन कर रहे हैं—यह अधिक महत्व ा है। योग देह की भौतिक क्रिया नहीं है, प्रत्युत् मान- प्रक्रिया और मनोवैज्ञानिक प्रयत्न है। अतः हमें स्थूल ार को सदाचार एवं सदाचार को भौतिक कार्य समझ कि भूल नहीं करनी चाहिए। मानव मन है और मन ा है। मन का अध्ययन मानव का अध्ययन है और मानव अध्ययन मन का। यह भौतिक शरीर आपका पूरा प्रति- त्व नहीं करता। चेतना-स्तर पर जो घटित हो रहा है, ा उसकी जाँच द्वारा वस्तुतः हम क्या हैं, इसका ज्ञान नहीं ाता। मनुष्य की कामनाएँ चेतना-तल की गहराई में हुई हैं: अतः इच्छा-रहित होते हुए भी अवचेतन दशा में उनसे मुक्त नहीं हो पाते। इन्द्रिय-सुख की तीव्र इच्छाओं वचेतन बीज, जो ब्रह्माण्ड के प्रतिरूप हैं, इस जगत् में क्रिया उत्पन्न करते हैं तथा प्रलोभन के रूप में प्रकट होते नचिकेता के सङ्ग जो घटित हुआ, वह सबके सङ्ग घटित

होगा। बुद्ध ने जो कष्ट सहे थे, उनका अनुभव हम भी करेंगे। ईसा मसीह के अनुसार प्रत्येक को उस साँकरी गली से ही होकर जाना पड़ेगा।

उस नित्य और अविनाशी की ओर जाने वाला मार्ग सँकरा है, सङ्कीर्ण है—इतना सङ्कीर्ण कि अपने सङ्ग आप अपनी कोई वस्तु नहीं ले जा सकते—वस्त्र भी नहीं, पैसों का बटुवा भी नहीं उस सँकरे द्वार से आपका यह शरीर भी नहीं जा सकता। आपको सब कुछ यहीं छोड़ना पड़ेगा। इतना अधिक सूक्ष्म और सँकरा है वह मार्ग। कठोपनिषद् उसे 'क्षुरस्य धारा'—असिधारा के समान बताता है। अध्यात्म-पथ तलवार की धार के समान सूक्ष्म और प्रखर है। अतः अपने स्वभाव को समझने में आप जितना ही सजग रहेंगे उतना ही हितकर है। अहं जितना ही कम होगा उतना अच्छा है। साधक ही क्या, किसी भी व्यक्ति के लिए स्वयं को महाज्ञानी समझ लेना उचित नहीं। इससे उसकी साधना में कोई लाभ नहीं होगा। ज्ञान का वास्तविक शोध करने वालों में विनम्रता होना उनके साधक होने की प्रथम शर्त है। गीता के अनुसार विद्या और विनय सङ्ग-सङ्ग रहते हैं; लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि आज-कल ज्यों-ज्यों व्यक्ति शिक्षित होता जा रहा है, त्यों-त्यों उसका अहङ्कार बढ़ता जाता है। आप शिक्षित हैं तो आपको ऊँची पदवी चाहिए; पर प्रभु की ओर ले जाने वाला पथ सांसारिक मार्ग से भिन्न है। अस्सिसी के सन्त फ्रांसिस, इस हमारे देश के आलवार नयनार, पुरन्दर दास और तुकाराम जैसे महापुरुषों तथा महान् सन्तों की जीवनी पढ़िए। वे कैसे रहते थे? सम्पत्ति के नाम पर उनके पास कुछ नहीं था, न वे कुछ चाहते ही थे। पद, मान, प्रतिष्ठा, यहाँ तक कि कृतज्ञता-ज्ञापन के शब्दों की

भी आकांक्षा उनमें नहीं थी। मानव द्वारा अङ्कित मूल्यों की दृष्टि से वे साधारण व्यक्ति थे; परन्तु जीवन के उच्चतम मूल्यों की दृष्टि से वे महानतम थे।

योग का पथ कठिन है। जीवात्मा का पथ पर अपने गन्तव्य की ओर बढ़ते रहने के कठिन प्रयत्न से अधिक दुष्कर कोई भी कार्य नहीं है। हमारे भीतर एषणाएँ विविध प्रकार से और नाना कोटियों के प्रलोभनों के रूप में प्रकट होती हैं अतः योग-पथ पर अग्रसर होते समय सर्वप्रथम आपको प्रलोभन का सामना करना पड़ता है। उसे आप जीत नहीं सकते लोभ लोभ के रूप में नहीं आता; अतः उसे कोई रोक नहीं सकता। दुष्ट यदि दुष्ट के रूप में आये तो आप उसे पहचा लेंगे; अतः वह सन्त के रूप में आता है और आप उसे समझ में भूल कर जाते हैं। इन्द्रिय-सुख-भोग और अहं-तुष्टि जीव की अनिवार्य आवश्यकता बन जाते हैं। 'यह तो हमारे लि अनिवार्य है'. 'इसकी हमें तीव्र आवश्यकता है,' 'यह आवश्यक प्रलोभन नहीं', आप अपने समक्ष ऐसे ही तर्क प्रस्तुत कर हैं। आसक्ति को दयालुता मान लेते हैं। काम और लोभ जीवन की आवश्यकताएं समझ लेते हैं। अहङ्कार और स्वा परता को जनहिताय परहिताय समझ लिया जाता है। मि वस्तु को गलती से सत्य समझ लिया जाता है। संसार ईश्वर, दुःख को सुख और भ्रम को सिद्धि मान लिया ज है। आत्म-पथ पर इन सब प्रलोभनों से मुठभेड़ होती है।

इसीलिए हम कहते हैं कि गुरु आवश्यक है। गुरु ही देगा कि आप किस स्तर पर हैं और आप में क्या घटित रहा है? यह कोई नहीं जान सकता कि अगले क्षण आप

क्या बीतेगी ? अतः सामना होने पर आप समझ नहीं पाते कि आपके समक्ष रावण खड़ा है या संन्यासी ? वह रावण ही था परन्तु साधु के छद्म वेश में आया और निरीह सीता को हर ले गया। अतः यमराज नचिकेता को प्रलोभन देते हैं। प्रलोभन हम लोगों को भी दिया जा सकता है, दिया जा रहा है, इस क्षण भी दिया जा रहा है और हम नहीं जान पाते। जिस क्षण हम प्रलोभन ठुकरा देते हैं, हमारे अन्तर में ज्ञान और सत्य को पहचानने की विवेक-बुद्धि उसी क्षण उदित हो जाती है। तब हम इन्द्रियातीत मूल्य और सत्य के अस्तित्व को स्वीकारने लगते हैं।

कठोपनिषद् में वर्णित प्रत्याहार और आत्मा के अनुभव की जिस अवस्था का वर्णन है, उसमें कम से कम मुख्यतः तीन भूमिकाएँ हैं। सबसे निम्न और प्रथम अनुभव इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष यह जगत् है जो वाजश्रवा गौतम के यज्ञ द्वारा प्रतिपादित किया गया है। द्वितीय है व्यक्ति में महत्वाकांक्षा का उदित होना जो नचिकेता के हृदय में उत्पन्न सत्य की खोज के प्रतीक द्वारा बताया गया है। इसके उपरान्त आता है प्रलोभन और तदनन्तर होता है ज्ञानोदय। परम सत्ता के इस ज्ञान का उदय भी क्रमशः होता है। जैसे छः बजते ही सूर्योदय हो जाता है, इस प्रकार अकस्मात् नहीं होता। उस ज्ञान की अवस्थाएँ होती हैं और बहुत धीरे-धीरे आता है। आजकल की साधारण वैज्ञानिक जानकारी शीघ्र हो जाती है। बहिर्मुखता से होते हुए जीवात्मा तप, संयम आदि द्वारा (जिन्हें नचिकेता के तीन दिन के निराहार से सूचित किया गया) शनैः-शनैः उच्च से उच्चतर उठती हुई सत्य के अधिकाधिक समीप पहुँच जाती है।

नचिकेता जिज्ञासु आत्मा है और उसके तीन व्रत मानव-आत्मा का त्रिधा संयम है। यहाँ सम्पूर्ण योग को संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया गया है। ब्रह्माण्ड के तीन स्तरों के समान मानव-आत्मा के भी तीन स्तर हैं जिन्हें संयमित करना है। उन्हें बाह्य विषयों में आसक्त होने की खुली छूट नहीं दी जानी चाहिए। ऐन्द्रिक (संवेदन) क्रियाओं द्वारा भौतिक स्तर, भाव, इच्छा (सङ्कल्प) आदि द्वारा मानसिक स्तर तथा आध्यात्मिक स्तर प्रस्तुत किये गये हैं। ये आरोहण के प्रमुख स्तर हैं जिनके लिए सत्य की खोज में निरत नचिकेता जीवात्मा ने तीन दिन निराहार व्रत किया था।

निराहार व्रत क्या है ?

विषय-भोगों से परावर्तन एवं संवेदन-(इन्द्रिय)-शक्तियों को शनैः-शनैः वश में करना।

ऐन्द्रिक क्रियाएँ देहगत होने के कारण अहं की प्रतीक हैं। इन्द्रियों के अनुगत होने के कारण हम देह से दुर्बल हैं, अत प्राकृतिक शक्तियों के प्रहार को सहन नहीं कर पाते। सर्दी गर्मी नहीं सह सकते। भूख-प्यास नहीं सह सकते; वायु के तेज झोंके नहीं सह सकते, जल की बाढ़ तक नहीं सह सकते प्राकृतिक शक्तियाँ हमारे वश के बाहर हैं। मनुष्य इन्द्रियों क अनुगत हो गया है, इसलिए प्रकृति उससे विच्छिन्न हो गयी है व्यक्ति और बाह्य जगत् के बीच इन्द्रियाँ खाई खोद देती हैं वे कहती हैं, 'जगत् तुमसे बाहर है, तुमसे अलग है, असम्बन्धि है। तुम्हें उससे डरना पड़ेगा, यहाँ तक कि उसके सामने घुट टेकने पड़ेंगे।'

आपको विदित होता है, संसार हर दृष्टि से आपकी अपेक्ष

अधिक शक्तिशाली है। हम उसके सामने कुछ भी नहीं है
नाना प्रकार की प्राकृतिक शक्तियों से हमें डर लगता है। अ
मानव-स्तर पर इन्द्रियों का निराहार रहना प्रथम संयम
जो प्रकृति की भौतिक शक्तियों पर अधिकार कर लेने का ब
प्रदान करता है। नचिकेता को प्रथम वरदान यही प्राप्त हु
था—'संसार में जब लौटोगे तो शासक की भाँति लौटोगे, सेव
की भाँति नहीं। संसार तुम्हें अपना मित्र जानेगा, शत्रु नहीं

किसी एक प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सिद्ध-आत्मा संसा
में लौट आती है। लौट आने पर संसार उसे पूर्व की अपेक्ष
भिन्न रूप में अपनाता है। आपकी अज्ञानावस्था में संसार आप
सङ्ग जैसा व्यवहार करता है, ज्ञानवान् होकर आने पर वैस
व्यवहार नहीं करेगा; उससे सर्वथा भिन्न व्यवहार करेगा
यही कारण है कि नचिकेता ने याचना की—'संसार में लौ
आने पर मुझे रोष और अपमान के स्थान पर ख्याति मिले।

'हाँ, ऐसा ही होगा'—यमराज उत्तर देते हैं। कथन क
आशय है कि अन्य दोनों वरदानों को पृथक् करके भी देख
जाय तो केवल यही वरदान पाने पर भी तुम भौतिक शक्तिय
के स्वामी बन जाओगे। संसार तुम्हें ताड़ना नहीं दे सकेगा
तुम्हारा मित्र बन जायगा।

सम्प्रति संसार हमारा मित्र नहीं है अर्थात् हम उससे डरते
हैं। वह हमारा मित्र नहीं है; क्योंकि इन्द्रियों ने हमारे और
संसार के बीच अन्तर की भावना उत्पन्न कर दी है।

संसार के सङ्ग आप जैसा व्यवहार करेंगे, वह भी आपके
साथ वैसा ही व्यवहार करेगा। यदि आप उसे अपने से इतर
समझेंगे तो वह भी आपको अपने से बाहर का पराया समझेगा।

यदि आप उसे विदेशी मानेंगे तो वह भी आपको वैसे ही दृष्टि-कोण से देखेगा तथा चले जाने को कहेगा। और वैसे भी किसी-न-किसी दिन आप सदा के लिए चले ही तो जाते हैं!

आपका व्यक्तित्व संसार से असम्पृक्त है—कटा हुआ है; इसीलिए आप मरते हैं; अन्यथा यहाँ जन्म या मृत्यु कुछ भी नहीं है। यदि आप संसार की शक्तियों से तादात्म्य कर लें तो आपको जन्म और मृत्यु व्याप्त नहीं होगी। जन्म-मरण व्यक्ति के प्राकृतिक शक्तियों से विच्छिन्न हो जाने के कारण होते हैं।

अतः इन्द्रियों के प्रत्याहार के रूप में नचिकेता के प्रथम दिवसीय उपवास ने यमराज के वरदान के रूप में इतनी सशक्त प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी कि उसने समस्त विश्व को अपने आत्मिक अंश के रूप में स्वीकार लिया। भौतिक जगत् नचि-केता का मित्र बन गया। ऐसा हमारे जीवन में भी घट सकता है। व्यक्तिगत रूप से हम भी नचिकेता हैं। हममें से हर एक नचिकेता है; क्योंकि नचिकेता और कोई नहीं, परमात्मा की खोज करने वाली आत्मा का ही प्रतीक है।

अतः इन्द्रियों पर संयम करने का क्या परिणाम होगा? संसार आपको अपना मित्र और हितैषी मानने लगेगा। इन्द्रिय-संयम के परिणाम-स्वरूप हर क्षेत्र में प्राचुर्य हो जाता है। आपको किसी भी वस्तु का अभाव नहीं रहेगा। जिस प्रकार सरिताएँ सागर की ओर उमड़ती हैं, उसी प्रकार समस्त पदार्थ स्वतः आपकी ओर उमड़े चले आयेंगे।

गीता में कहा है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

—गीता : २-७

—जिस प्रकार सब ओर से नदियाँ सागर में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार आपकी इच्छित वस्तुएँ सभी ओर से जल की बाढ़-सदृश आपकी ओर आयेंगी। आपको संसार के पीछे भागने की आवश्यकता नहीं, संसार स्वयं आपके पीछे आयेगा। आपको संसार से कोई पदार्थ माँगना नहीं पड़ेगा, वह स्वतः आपके बिना माँगे ही आपको प्राप्त हो जायगा।

नचिकेता को उसके प्रथम तप के उपलक्ष्य में दिया गया यह प्रथम वरदान था।

द्वितीय तप मनस्तत्त्व से सम्बन्धित है। दूसरे दिन का अनाहार इन्द्रियों पर ही नहीं, मन पर भी विजय पाने का प्रतीक है। सम्यक् रूप से संयम हो जाने पर मन शनैः-शनैः अखिल सृष्टि के साथ ऐक्य स्थापित कर लेता है। नचिकेता को यम के द्वारा वरदान-स्वरूप प्राप्त वैश्वानर-अग्नि-विद्या का यही रहस्य है। इन्द्रियों का संयम आपको भौतिक जगत् का मित्र बना देता है। परिणामतः लौकिक पदार्थ प्रचुर मात्रा में आपके पास स्वतः उमड़ आते हैं और आप विश्व में सर्वाधिक सम्पत्तिशाली हो जाते हैं। शाब्दिक अर्थ में मनःसंयम की उच्चतम अवस्था में आप स्थूल या भौतिक जगत् के ही नहीं, मानसिक जगत् के भी स्वामी हो जाते हैं। अतः नचिकेता का दूसरा तप मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार-युक्त मनस्तत्त्वपरक तप है। इस तप से मनस्तत्त्व के सभी विभिन्न पक्ष अनुशासित हो जाते हैं। जिस प्रकार इन्द्रियों की क्रियाओं के कारण

ातिक-शरीर इस स्थूल जगत् से कट कर अलग हो जाता है। सी प्रकार दिक्काल-युक्त होने के कारण मन भी विश्व-मन से लग हो जाता है, आप देश-काल के सन्दर्भ में विषय-परक ाह्य बुद्धि से सोचते हैं; अतः विश्व-मन से विच्छिन्न हो जाते । ऐसी दशा में प्रतीत होने लगता है जैसे भगवान् भी हमारे हायक नहीं रहे, हमारी प्रार्थनाएँ भी मानो उन तक नहीं हुँच रही हैं।

ऐसा क्यों होता है ?

क्योंकि हमने व्यक्तिगत विचारणा द्वारा, अपने अहं की स्थापना द्वारा अपने स्वयं को विश्व-शक्ति के स्रोत से काट कर अलग कर लिया है। साधक नचिकेता के दूसरे तप या संयम का आशय था व्यष्टि मन को समष्टि मन से जोड़ना। इसी के फलस्वरूप उसे योगेश्वर यम से दूसरा वरदान मिला।

कतिपय दर्शन-शास्त्रों में अग्नि को आत्यन्तिक सत्य, परम सत्य माना गया है। उदाहरणार्थ यूनान के हिर क्लीटस नामक एक दार्शनिक परम सत्य को अग्नि का ही एक रूप मानते थे। केवल हिर क्लीटस का ही यह मौलिक विचार हो, ऐसा नहीं है। भारत में भी हम अग्नि को सङ्कल्प (इच्छा)-शक्ति का प्रतीक मानते हैं। ऋग्वेद का सर्वप्रथम मन्त्र अग्नि की स्तुति करता है; परन्तु यह वह अग्नि नहीं है जिससे आप भोजन पकाते हैं। यह वैश्वानर-अग्नि, विश्व-शक्ति, विश्व-ऊर्जा है भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—'अहं वैश्वानरो भूत्व प्राणिनां देहमाश्रितः'—'मैं विश्व-आत्मा हूँ और वैश्वानर अग्नि के रूप में व्यक्ति को अनुप्राणित करता हूँ।' स्रष्टा के इस विश्वरूपा वैश्वानर-अग्नि का ज्ञान सकल पदार्थों को विपुर

मात्रा में देने वाला है। नचिकेता को प्राप्त यह सृष्टि-तत्त्व का ज्ञान मनस्तत्त्व की तपस्या का प्रतिफल था।

बाहर से आप अन्तर की ओर जाते हैं और उसके उपरान्त विश्व-सत्ता की ओर। उस समय बाह्य जगत् आपका मित्र बन जाता है, आन्तर-जगत् भी आपका सहचर हो जाता है। यह अनुभूति बड़ी ही विलक्षण होती है। अतः बहुधा हम इस आन्तर अनुभूति को आत्म-साक्षात्कार समझ लेते हैं; लेकिन वास्तव में यह आत्म-साक्षात्कार नहीं होता। इसके आगे एक सोपान और है। नचिकेता का तीसरा प्रश्न जिसे आगे बताया जायगा, उसी के सम्बन्ध में था। उसका उत्तर देने को यमराज किसी प्रकार भी प्रस्तुत न थे और यह उचित भी था।

द्वितीय वरदान व्यक्तिगत मानसिक इकाई के विश्व-रूप हो जाने का प्रतीक है जिसके उपरान्त आप सर्वज्ञाता हो जाते हैं। प्रथम उपवास (तप) के परिणाम-स्वरूप आप प्रकृति की भौतिक शक्तियों से युक्त हो जाते हैं। भौतिक विश्व से एकात्म होने पर हर प्रकार की अतुल सम्पत्ति के स्वामी हो जाते हैं और अब द्वितीय स्तर पर ज्ञान के भी धनी हो जाते हैं। योगी निर्धन नहीं है। वह शरीर से भी धनी है और मन से भी। उसके पास सब कुछ है। संसार का सबसे अधिक सम्पत्ति-शाली व्यक्ति भी उसकी समता नहीं कर सकता। अखिल विश्व पर उसका अधिकार हो जाता है। पूज्य श्री स्वामी शिवानन्द जी विनोद में कहा करते थे कि संन्यासी का बैङ्क-जमा कुछ नहीं होता; लेकिन दूसरे सभी के जमाखाते उसके होते हैं। वह उनको चालू रख सकता है। उसके पास कार नहीं होती; परन्तु किसी की भी कार में घूम सकने के लिए

स्वाधीन है। उनके इस विनोद में भी महान् सत्य निहित है। योगी को किसी भी वस्तु का, यहाँ तक कि भौतिक वस्तुओं का भी, अभाव नहीं होता। मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला योगी, संसार का एक गरीबी का मारा व्यक्ति होता है, ऐसा न सोचिए। ऐसा कदापि नहीं है। वह भौतिक सम्पदा की दृष्टि से भी सम्पन्न होता है। वह जीवन के प्रत्येक मूल्य के प्रति सजग होता है। नचिकेता के इन्द्रिय-संयम-रूपी प्रथम तप ने उसे भौतिक रूप से प्रत्यक्ष रूप में हर प्रकार से स्वस्थ और सम्पन्न कर दिया था और अन्तःकरण के द्वितीय तप द्वारा वह विश्व-सत्ता के ज्ञान से सम्पन्न हो गया। व्यक्ति को भौतिक सम्पदा और ज्ञान-सम्पदा दोनों उपलब्ध हो जाती हैं। आपको दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार की सम्पदाएँ मिलती हैं। लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही आपके अधीन हो जाती हैं। लक्ष्मी भौतिक सम्पदा की प्रतीक है और सरस्वती स्वयं सर्वज्ञ होने के कारण विद्या और ज्ञान की प्रतीक है। अतः योगी प्राकृतिक शक्तियों का स्वामी हो जाता है। ब्रह्माण्ड की प्रत्येक दिशा से प्राचुर्य की वर्षा होने लगती है और वह सर्वज्ञाता बनने लगता है। ज्ञान और शक्ति योग-साधना का सद्यः परिणाम होता है। आप में ज्ञान और शक्ति भर जाती है और आप वस्तु-सत्ता पर नियन्त्रण कर लेते हैं। इस प्रकार योगी अत्यधिक शक्तिशाली और अत्यधिक ज्ञानी होता है।

तक समझ भी सकते हैं; परन्तु आगे जो बताया जायगा वह मन के लिए आत्मसात् कर लेना बड़ा ही कठिन है। अतः महागुरु यम कहते हैं--'इसे देव भी भली-भाँति नहीं समझ सकते'—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः —कठ० : १-१-२१

'नचिकेता ! जिसके सम्बन्ध में तुम पूछ रहे हो, वह तत्त्व बड़ा ही सूक्ष्म है। अतः इस लोक से जाने के उपरान्त सार्वभौमिकता पाने पर आत्मा का क्या होता है—इसका उत्तर न माँगो। इसके बदले में मैं तुम्हें अखिल विश्व का स्वामी बना सकता हूँ, विश्व के समस्त ज्ञान के साथ सर्वज्ञातृत्व-क्षमता प्रदान कर सकता हूँ। बस यही प्रश्न मत पूछो। इस का उत्तर तो देवता भी नहीं दे सकते। वे भी इस गूढ़ तत्त्व की व्याख्या करने में असमर्थ हैं। मैं तुमसे विनतीपूर्वक आग्र करता हूँ कि इसका उत्तर पाने का हठ छोड़ दो। कहता हूँ मेरे पीछे मत पड़ो; परन्तु तुम मानते ही नहीं, ओह !

'अच्छा तो फिर सुनो। तुम्हें इस सम्बन्ध में बता अवश्य रहा हूँ; परन्तु इसे समझना बड़ा ही कठिन है। इसके मर्म का अनुभव तो महानतम योगी भी नहीं कर सके। संसार में अनेक योगी हैं; परन्तु इसके सार को कौन हृदयङ्गम कर सका है—कहा नहीं जा सकता।'

ऐसा ही होता है। नचिकेता जैसे महाभिकांक्षी को, सुपात्र को भी यम ने इस प्रकार टाल देना चाहा ! और एक हम हैं ... बताते हैं, आश्वासन देते हैं कि हम बताना

चाहते हैं कि हमारे अधिक से अधिक शिष्य हो जायं ! अनेकों अन्तर्राष्ट्रीय योग-केन्द्र खुल गये हैं। कैसा विचित्र व्यापार है ! इस प्रकार का योग आपको कहीं का नहीं रहने देगा। अपने को हास्यास्पद मत बनाइए। इस विज्ञापनबाजी वाले योग का मिथ्याचरण करने वालों पर प्राकृतिक शक्तियाँ हँसेंगी, उनका परिहास करेंगी। योग प्रचार नहीं है। इस बात को सम्भवतः हमसे अधिक नचिकेता जानता था। अतः जब तीनों लोकों की सम्पदा स्वीकार करने का प्रस्ताव उसके समक्ष रखा गया, वह स्पष्ट रूप से उसे अस्वीकार कर देता है। वह कहता है—'नहीं, मुझे नहीं चाहिए। यह वरदान आप लौटा लें।' मान लीजिए, कोई हमसे कहता है; 'इन तीन लोकों की सम्पदा तुम्हारी है। ले जाओ।' हम तुरन्त योग की चिन्ता छोड़कर केवल यही चाहना करेंगे—ओह त्रिलोक ! त्रिलोक की सम्पदा और हमको ? अकल्पनीय ! कितना बड़ा सौभाग्य !

परन्तु नचिकेता में ऐसी दुर्लभ वस्तु की भी कामना नहीं है। एक हम हैं जो प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं; 'प्रभो, मेरे पुत्र को दीर्घजीवी बना दो। साथ ही हमें भी दीर्घ जीवन दे दो।' परन्तु नचिकेता कहता है—'मैं दीर्घतम आयु भी नहीं चाहता। यह दीर्घतम आयु भी विश्व की स्थिति तक ही रहेगी। अतः मेरे लिए इसका कोई महत्व नहीं; इसमें मेरी रुचि नहीं।'

नचिकेता की तीसरी माँग अति विलक्षण माँग है। प्रश्न भी विलक्षण है; प्रश्नकर्ता भी विलक्षण है और उतना ही विलक्षण उत्तर भी है !!

अन्ततः नचिकेता के प्रश्न का उत्तर दिया जाता है। उसी अटलता और दृढ़ता एवं कृतसङ्कल्प के परिणाम-स्वरूप, विश्व

के समस्त प्रलोभनों को ठुकरा देने के कारण प्रश्न का उत्तर दिया है और नचिकेता का वह प्रश्न—तृतीय प्रश्न है क्या—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। —कठ० : १-१-२०

'आत्मा का अस्तित्व है या नहीं है ? यदि है तो वह क्या चीज है ? वह है भी या नहीं ? आत्मा से आपका क्या आशय है ?'

आत्मा का अस्तित्व है या नहीं, इसका उत्तर तभी दे सकते हैं जब हम जानते हों कि आत्मा क्या है ? उसे जाने बिना हम कैसे कह सकते हैं कि वह है या नहीं। आत्मा का विज्ञान ही उपनिषद् का विज्ञान है। आत्मा के सम्बन्ध में हमारी एक सङ्कल्पना भी है। हम इसके बारे में प्रायः नित्य-प्रति बात करते हैं। इसके सम्बन्ध में हमारी धारणा बड़ी बचकानी, नासमझ बच्चों जैसी है मानो यह हमारे शरीर के भीतर की प्राणिक क्रियाओं का एक स्फुलिङ्ग (चिनगारी) हो। कुछ व्यक्ति इसे वह प्राणिक शक्ति कहते हैं जो भीतर से हमें कार्य करने की प्रेरणा देती है। हम प्रायः यही समझते हैं कि आत्मा का अस्तित्व हमारे भीतर है और हम कहने लगते हैं कि आत्मा अन्दर है, भीतर है। यह 'भीतर' शब्द बड़ा खटकता है। यह एक अलग प्रश्न है कि हम क्यों कहते हैं कि आत्मा भीतर है ? आत्मा क्या है ? प्रस्तुत उपनिषद् में इसकी व्याख्या हुई है; परन्तु स्पष्ट रूप में न होकर प्रतीक रूप में हुई है। वस्तुतः कठोपनिषद् में इस प्रश्न का सुस्पष्ट उत्तर कहीं नहीं मिलेगा। यमराज घुमा-फिरा कर उपदेश पर उपदेश देते चले जा रहे हैं; किन्तु नचिकेता के तृतीय प्रश्न के सम्बन्ध में स्पष्टतः कुछ भी नहीं कहते। तथापि यदि हम

दार्शनिक जिज्ञासा से औपनिषदीय मन्त्रों को ध्यानपूर्वक पढ़ें तो ज्ञात होगा कि वह रहस्य मन्त्रों की पङ्क्तियों में ही छिपा है।

इस प्रश्न का विस्तृत उत्तर बृहदारण्यक और कुछ सीमा तक छान्दोग्योपनिषद् में प्राप्त होता है। यदि आप नचिकेता के तृतीय प्रश्न के उत्तर-रूप में दिये हुए कठोपनिषद् के उपदेशों का सम्पूर्ण निहितार्थ जानना चाहते हैं तो आपको बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषद् पढ़ने होंगे; अन्यथा नचिकेता के इस अन्तिम प्रश्न का अर्थ भी आप नहीं समझ सकते। उसका यह पूछने का क्या अभिप्राय था कि इहलोक से परे जाकर आत्मा का क्या होता है? नचिकेता 'महति साम्पराये' शब्द प्रयुक्त करता है। 'साम्पराय' परलोक को कहते हैं। इस दृश्य जगत् से परे 'साम्पराय' है। लेकिन स्थूल देह के नष्ट होने पर मृत्यु उपरान्त जो कुछ है, वही 'साम्पराय' नहीं है। शारीरिक रूप में मृत्यु हो जाने पर आत्मा का क्या होता है— नचिकेता यह नहीं पूछ रहा है। अनेक व्याख्याकारों ने उक्त शब्द का यही अर्थ लगाया है। नचिकेता जैसा प्रतिभा-सम्पन्न बालक यह तो जानता ही होगा कि भौतिक मृत्यु के उपरान्त क्या घटता है। अतः बात यह नहीं थी। उसने 'साम्पराये' के पूर्व एक विशेषण भी जोड़ा है 'महति' अर्थात् 'सुदूर, अतिदूर, लोकोत्तर।' साधारणतः 'साम्पराय' का अर्थ होता है मृत्यु के तत्क्षण उपरान्त घटित होने वाली आत्मा की स्थिति; परन्तु 'महति साम्पराये' आत्मा की वह अवस्था होगी जो सकल ब्रह्माण्ड का अतिक्रमण करने के उपरान्त होती है।

अन्ततः आत्मा का क्या होता है? वह कहाँ स्थित रहती है?

एक शिक्षक था, शायद पादरी था, जिसने बाइबिल के ल
में लोगों के समक्ष कहा था, 'ईश्वर ने स्वर्ग और भूल
बनाया है।' एक श्रोता उठकर पूछने लगा—'भगवान् क
रहता है?' पादरी ने उत्तर दिया—'स्वर्ग में।' 'परन्तु स्व
बनाने से पूर्व वह कहाँ था?' ईश्वर स्वर्ग में है; परन्तु यदि स्व
उसने ही बनाया है तो स्वर्ग-रचना से पूर्व भी उसका अरि
त्व होगा। तब वह कहाँ था? विश्व-रचना से पूर्व कहाँ था
आप कहते हैं वह सर्वत्र है। इसका अर्थ है 'संसार में सर्वत्र
परन्तु यदि सृष्टि के पूर्व संसार भी नहीं था, उस समय ईश्व
कहाँ था? इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। आप यह न
कह सकते कि भगवान् सर्वव्यापी है; क्योंकि इस सर्वव्यापी
भी संसार निहित है। आप यह भी नहीं कह सकते कि सर्व
ज्ञाता है; क्योंकि उसमें भी संसार है। इसी प्रकार आप उ
सर्वशक्तिमान् भी नहीं कह सकते; क्योंकि इसमें भी संसा
विद्यमान् है। यदि संसार न हो तो फिर ईश्वर क्या है? संक्षे
में नचिकेता के प्रश्न का यही सारांश है।

तृतीय प्रवचन

आध्यात्मिक उन्नति में उपस्थित होने वाली मुख्य बाधाएँ अविद्या, काम और कर्म हैं। वास्तव में यह एक ही बाधा है जो तीन रूपों में सामने आती है। वस्तुओं के वास्तविक और मूल-रूप का ज्ञान न होना अविद्या है। इसे हम ज्ञान का अभाव या तमस आदि भी कहते हैं। अविद्या 'काम' (इन्द्रियों के बाह्य विषयों की कामना) उत्पन्न करती है। सत्य के स्वरूप का ज्ञान न होना 'अविद्या' है। अविद्या विषयोन्मुख अहङ्कार-वृत्ति को जन्म देती है। अविद्या और अहङ्कार की स्थिति युगपत् है। दोनों अग्नि और ताप की तरह अभिन्न होते हैं। अविद्याजनित अहङ्कार के साथ ही दूसरों के सङ्ग में खोयी हुई वस्तु के पुनः पाने की लालसा जैसे अनिवार्य परिणाम भी चित्त में घटित होते हैं। इसी को 'काम' कहते हैं। 'काम' की पूर्त्ति हेतु 'कर्म' किया जाता है। इस प्रकार मानव के सम्पूर्ण जीवन में 'अविद्या', 'काम' और 'कर्म' नामक त्रय-शक्तियों का बहुत बड़ा हाथ है। ये त्रय-शक्तियाँ ही आसुरी शक्ति का त्रिपुर कहलाती हैं जिसे भगवान् शिव ने एक ही बाण से उड़ाया था। पुराणों में इन्हीं शक्तियों को क्रमशः स्वर्ण, रजत एवं लौह दुर्ग

कहा गया है। हठयोगियों, कुण्डलिनी-योगियों तथा तान्त्रिक की शब्दावली में इन्हें ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि कहते हैं। एक ही शक्ति इन तीन रूपों में उपस्थित हो ज्ञान के प्राकट्य में बाधक बनती है।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं
त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
—कठ० : १-१-१७

नचिकेता का त्रिदिवसीय उपवास जीवात्मा द्वारा उपर्युक्त तीनों दुर्गों को भङ्ग करने के प्रयत्न के समकक्ष कहा जा सकता है, और इस प्रयत्न की प्रक्रिया होती है क्रमश कर्म, काम और अविद्या की शक्तियों पर विजय पाते हुए अन्तर्मुखी होते जाना। नचिकेता द्वारा उपवास-रूप में किये गये ये तीन तप तीन उपायों से तीन तरह की आत्मिक साधना द्वारा किये जाते हैं। यही 'त्रिणाचिकेत' का औपनिषदिक अर्थ है। इन तीन साधना-प्रक्रियाओं द्वारा आप जन्म-मरण के पार हो जाते हैं। शरीर के तीनों स्वरूपों में आबद्ध करने वाली अवस्थाओं तथा भूः, भुवः, स्वः तीनों लोकों पर आपका अधिकार हो जाता है। आत्मा के स्फुरण को कुण्ठित कर उसे सांसारिक दुःखों में बाँधने वाले बाहरी और आन्तरिक बन्धन ये कर्म, काम और अविद्या ही हैं। उपनिषद् में 'त्रिणाचिकेत' का लक्षणार्थ है—इस तिहरे बन्धन से मुक्त हो जाना, बन्धनातीत हो जाना। संयुक्त रूप में काम आने वाले साधन हैं मन, बुद्धि और आत्मा। यही हैं 'त्रिभिरेत्य सन्धिम्'। आपको तीन कर्म भी करने हैं—यज्ञ, दान और तप। इन त्रिकर्मों का उल्लेख श्रीमद्भगवद्गीता में हुआ है। सत्य से तादात्म्य करने के लिए यज्ञ किया जाता है जिसमें पूर्ण आत्म-संयम एवं समर्पण की

भावना अपेक्षित है। यज्ञ का अर्थ बड़ा ही व्यापक और गहरा है। वस्तुतः भारत की सम्पूर्ण संस्कृति ही एक शब्द 'यज्ञ' में अभिव्यञ्जित हो जाती है। यज्ञ को विष्णु के समान बताया गया है—'यज्ञो वै विष्णुः।' यज्ञ को ईश्वर माना गया है। वेदों के पुरुषसूक्त में तो अखिल सृष्टि को ही परमात्मा का यज्ञ कहा गया है। इस प्रकार यज्ञ स्वयं को परमात्मा से मिलाने के लिए आत्मा का चरम प्रयत्न है। हमारी दूसरों को कुछ देने की प्रवृत्ति 'दान' है। कुछ मुद्राएँ, रुपये, डालर आदि दे देना मात्र 'दान' नहीं कहलाता। 'दान' एक मानसिक अभि-वृत्ति है जो शारीरिक क्रियाओं द्वारा प्रकट भी होती है और अप्रकट भी रह सकती है। इसमें दूसरों के प्रति दान की भावना, दान की अभिवृत्ति, आचरण और व्यवहार सब आ जाता है। दूसरों की परिस्थिति से सहानुभूति रखने की क्षमता भी 'दान' है। जब आप में इतर जीवों और व्यक्तियों की भावनाओं में, उनकी वास्तविक दशा और स्थितियों में प्रवेश करने की क्षमता आ जाती है और आप अन्तर से अना-यास ही जैसा वे अनुभव करते हैं वैसा ही अनुभव करने लग जाते हैं, जैसा वे विचारते हैं वैसा ही विचारने लग जाते हैं तथा जो वे करते हैं वैसा ही करने लग जाते हैं तो यह स्थिति आपके स्वभाव में निहित दानशीलता के गुण की अभिव्यञ्जक होगी। यह 'दान' कहलाता है। मनसा-वाचा-कर्मणा व्यक्तिगत अनु-शासन (संयम) को 'तप' कहा गया है। जो इन यज्ञ, दान और तप कहे जाने वाले आध्यात्मिक साधन-त्रय को अपनाता है, वह जन्म-मृत्यु के पार हो जाता है—**'तरति जन्ममृत्यू।'**

नचिकेता अपने तीसरे प्रश्न में जिस रहस्यमय गुह्य तत्त्व के बारे में पूछता है, यह सब अभी तक उसी की भूमिका मात्र

थी। उस महामनीषी यमराज से नचिकेता और कुछ नहीं चाहता, न अन्य किसी वस्तु से वह परितुष्ट ही होगा। वह तो केवल '**महति साम्पराये**' इसी मुख्य प्रश्न का उत्तर चाहता है। अन्य कुछ भी उसे स्वीकार्य नहीं है। आप जो तीसरा वरदान देने की महती कृपा कर रहे हैं, वह अन्तर्तम निगूढ़ समस्त प्राणियों की हृदय-गुहा में छिपे रहस्य के सम्बन्ध में है। उसके अतिरिक्त कोई भी वस्तु इस नचिकेता को सन्तुष्ट नहीं कर सकेगी—'**नान्यं वरं नचिकेता वृणीते**'। (कठ० : १-१-२६)।

अब यमराज उपनिषद् के मुख्य तथ्य पर आते हैं और नचिकेता की महाकांक्षा के हार्द तक पहुँचते हैं। उस तत्त्व को कैसे जाना जा सकता है? वस्तुतः उसमें कुछ विषय अत्यन्त ही कठिन हैं; अन्यथा यमराम उसके कथन में इतनी आनाकानी क्यों करते! आप चाहे कितनी ही मगजपच्ची करें, सोचें, तर्क-वितर्क करें, सुनें, बखान करें, उस तत्त्व को फिर भी नहीं जान सकते -

नायं आत्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
—कठ० : १-२-२३

आप चाहे किसी भी सम्भव उपाय से चिन्तन करें, आपका प्रवेश उस तत्त्वज्ञान में नहीं हो सकता। उसका जो गुह्य और गहरा अर्थ है, उसे ग्रहण करना महा-कठिन है। इसी कारण यमराज चाहते हैं कि नचिकेता कुछ न पूछे, मौन रह जाय; परन्तु नचिकेता उन्हें ऐसे ही छोड़ने वाला नहीं था—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
—कठ० : १-२-८

इस गुह्य ज्ञान को, परम रहस्य को कोई साधारण व्यक्ति नहीं बता सकता। निम्न-कोटि की बुद्धि सांसारिक दृष्टि से चाहे कितनी ही प्रखर कही जाती हो, इस गहन तत्त्व तक नहीं पहुँच सकती, न इसका वर्णन ही कर सकती है। कारण, यह ज्ञान सामान्य वैज्ञानिक जानकारी जैसा अथवा भौतिकी रसायन-शास्त्र और अङ्कगणित जैसा ज्ञान नहीं है और न किसी ऐसी वस्तु का ज्ञान है जिसे आप दर्शन, स्पर्शन या स्वादन आदि द्वारा प्राप्त कर सकें। यह ज्ञान निरपेक्ष ज्ञान है; अतः सापेक्ष भाषा उसे व्यक्त नहीं कर सकती। चित्त स्वयं सापेक्ष है, अतः वह भी इस ज्ञान की अभिव्यञ्जना का माध्यम नहीं बन सकता।

सापेक्ष के द्वारा निरपेक्ष का सम्प्रेषण हो ही कैसे सकता है? यह सनातन, नित्य ज्ञान अनित्य और नश्वर माध्यम द्वारा नहीं दिया जा सकता।

तार्किक क्षमता हम केवल उसे ही कहते हैं जो वैज्ञानिक कहे जाने वाले ज्ञान में मिलती है; परन्तु तर्क-क्षमता भी यहाँ जवाब दे देती है। ठीक ही कहा गया है कि विज्ञान का जहाँ अन्त होता है उसी सिरे से धर्म का आरम्भ होता है। अर्थात् उच्चतर ज्ञान का आरम्भ विज्ञान के अन्तिम सिरे से होता है। अपनी इस सूक्ष्मता के कारण ही ज्ञान तर्कातीत हो जाता है, तर्क से नहीं बँध सकता। समस्त पदार्थों में निहित सत्य-स्वरूप यह आत्मा तर्क, प्रवचन, व्याख्यान, पाण्डित्य या गहन शास्त्राध्ययन से नहीं जानी जा सकती। कुशाग्र बुद्धि भी उसे ग्रहण नहीं कर सकती; क्योंकि बुद्धि की कुशाग्रता भी उसी पर आधारित है जिसे हम तर्क-पद्धति कहते हैं।

आज का मानव चिन्तन की तर्क-प्रणाली को ही ज्ञानार्जन का अन्तिम माध्यम स्वीकार करके केवल उसी पर निर्भर करता है; परन्तु तर्क ऐसी अनुमिति का परिणाम है जो स्वयं असिद्ध होते हुए भी मान ली गयी प्राक्कल्पना होने के कारण अप्रमाणिक होती है। तार्किक उक्ति के उद्देश्य (Subject) और विधेय (Predicate) को संयुक्त करने का यत्न ही तर्क है। जिन्होंने तर्क-शास्त्र का अध्ययन किया है और जो आगमन-निगमन विधियों से परिचित हैं वे इसका अर्थ जान सकेंगे। प्रत्येक तर्क-वाक्य (प्रतिज्ञप्ति) उद्देश्य और विधेय से बनता है और किसी प्रकार की भी अर्थ-व्यञ्जना के लिए आपको वाक्य में अभिव्यक्ति देनी पड़ती है। समुच्चयबोधक शब्द उसे कहते हैं जो विधेयार्थ को उद्देश्य से अथवा उद्देश्यार्थ को विधेय से जोड़ता है। इस प्रकार आप विषयी और विषय—विषय, जिसे आप विधेय (Predicate) भी कह सकते—में भिन्नता स्थापित करते हैं। मन की पूर्व अनुमानित धारणा है कि वस्तुएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं। मन की इसी धारणा पर हम यह भिन्नता स्थापित करते हैं।

आप उद्देश्य को विधेय से क्यों जोड़ना चाहते हैं? इसी लिए न कि आप सोचते हैं कि दोनों भिन्न हैं; परन्तु आप ऐसा क्यों मान लेते हैं कि दोनों भिन्न ही हैं?

व्यष्टि रूप में आपकी अलग सत्ता है। व्यष्टि संसार का अवलोकन करता है—यह सब प्राक्कल्पना मात्र है जिसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता। विज्ञान के सारे तर्क और वितर्क केवल अनुमान पर आधारित होते हैं। संसार है और आप इसके अङ्ग हैं—यह सब अनुमान है और अनुमान होने के

कारण केवल यों ही मान लिया जाता है, सिद्ध नहीं हो सकता। आपको संसार दिखायी पड़ता है; अतः आप उसे जानते हैं। लेकिन आप कैसे कह सकते हैं कि आपकी दृष्टि सही है ? आप इसे तर्क द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते, केवल इतना ही कह सकते हैं कि चूँकि मैं देख रहा हूँ, अतः वह होगा ही—इसे रूढ़ि कहते हैं। विज्ञान रूढ़ियों के विरुद्ध है; परन्तु साथ ही संसार तथा उसके वैज्ञानिक के अस्तित्व को मानने वाली रूढ़ि पर आधारित है। यहाँ मानव-बुद्धि या विवेक काम नहीं देता। इस बुद्धि द्वारा अर्जित ज्ञान कितना ही क्यों न हो, व्यर्थ है। अतः जब तक आप ज्ञान के सर्वथा दूसरे साधन नहीं अपनाते तब तक इस गुह्य क्षेत्र में प्रवेश करने का कोई उपाय नहीं। 'अनन्य प्रोक्ते गतिरत्र नास्ति।' — कठ : १-२-८।

सत्य का कोई एक निश्चित स्वरूप न होने के कारण मानव-बुद्धि में उसका आना सदैव कठिन रहा है। उसका रूप-रङ्ग क्या है, कैसा है, आप नहीं बता सकते। मानव-भाषा में उसका आख्यान हो सकता है या नहीं, आप यह भी नहीं कह सकते।

परिभाषित वही वस्तु हो सकती है जो दृश्य हो और इन्द्रिय-ग्राह्य हो, परन्तु इन्द्रिय-ग्राह्यता ही किसी वस्तु की अन्तिम परिभाषा नहीं हो सकती और उस स्थिति में तो कदापि नहीं जब हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत उस वस्तु के गुणों के अतिरिक्त उसके मूल रचना-तत्त्वों के भी जानने का यत्न कर रहे हों। सत्य की परख, सत्य का स्वरूप विकार-रहित है। सत्य वही है जो अकाट्य हो कोई भी परिभाषा, अनुभव तथा उपलब्धि जिसे काट न सके, मिथ्या प्रमाणित न

कर सके। अर्थात् नित्यता सत्य का स्वरूप है। संसार की कोई भी वस्तु आत्यन्तिक सत्य नहीं होती। हर वस्तु परिवर्तनशील है; किसी न किसी रूप में परिवर्तित होती जा रही है। सारा जगत् ही अनित्य है। वह 'पूर्ण' के लघु अंशों से बना है, अतः स्वयं में परिपूर्ण नहीं है। अंशों की सन्निकर्षता को परम सत्य अथवा पूर्ण सत्य नहीं समझा जा सकता। सत्य तो वही है जो सदैव रहे। हमने किसी व्यक्ति या वस्तु को सर्वकालिक होते हुए नहीं देखा। महान् खगोलशास्त्रियों का तो कहना यहाँ तक है कि सूर्य-मण्डल भी शाश्वत नहीं है; उसका भी आदि और अन्त है, काल-गति में ब्रह्माण्ड भी नष्ट हो जायेगा। तब आप इसे सत्य कैसे कह सकते हैं? सत्य की सन्तोषप्रद परिभाषा किसी भी दृश्य पदार्थ को नहीं दी जा सकती। आप उसे परिभाषित हो कैसे करेंगे?

मानव के ज्ञान-प्राप्ति का मुख्य साधन मन है; परन्तु वह स्वयं इन्द्रियों द्वारा दिये ज्ञान पर ही निर्भर करता है। उसका कार्य केवल यही है कि वह इन्द्रियजन्य ज्ञान की, इन्द्रियों की ओर से आये विचारों की पुष्टि करे और उनका सहगामी बने। मन के द्वारा हमें और किसी प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। केवल उतनी ही होती है जितनी हम इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करते हैं। जो अदृश्य और अश्रव्य है अर्थात् जिसे हम देख-सुन नहीं सकते, जिसका स्पर्श नहीं कर सकते, स्वादन या अनुभव नहीं कर सकते उस वस्तु को मन भी नहीं जान सकता। वह मन के लिए भी अगोचर होती है। इसी लिए मन भी एक इन्द्रिय—छठी इन्द्रिय ही कहा जाता है। यद्यपि उसमें इन्ि यों से प्राप्त सूचनाओं का संश्लेषण करने की क्षमता होती है; परन्तु संश्लेषण ही तो ज्ञान नहीं है। मन

द्वारा ग्रहीत इन्द्रिजन्य ज्ञान से हमें नवीन गुणात्मक ज्ञान नहीं मिलता। जो कुछ पहले से ही विद्यमान है, इन्द्रियाँ उसे ही नवीन रूप में प्रस्तुत कर देती हैं और मन द्वारा व्यवस्थित इस ज्ञान को हमारी निर्णायक बुद्धि स्वीकार कर लेती है। इस प्रकार इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तीनों एक ही सामान्य कोटि में आते हैं, वे एक ही वर्ग के हैं। हमारे पास इन तीनों के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति-साधन नहीं है। और, ये तीनों जिन्हें हमने ज्ञान-प्राप्ति के साधन मान रखा है वस्तुतः ज्ञान के अविश्वसनीय सेवक हैं। अतः इनके द्वारा हम सत्य ज्ञान को उपलब्ध नहीं कर सकते। इसीलिए कठोपनिषद् कहता है कि केवल तर्क से, अध्ययन से तथा बुद्धि से सत्य को उपलब्ध नहीं किया जा सकता।

वह तो एक अन्य विशेष प्रकार के साधन के अनुग्रह से ही जाना जा सकता हैं, उपनिषद् में आये 'अनन्य प्रोक्ते' शब्द का वस्तुतः क्या अर्थ है, इसकी व्याख्या कोई भी टीकाकार भली-भाँति नहीं कर सका है। ऐसे ही अनेक गूढ़ शब्द हैं जिनका भाव आसानी से नहीं समझा जा सकता। वे लोहे के चने के समान हैं जिन्हें सहज ही नहीं चबाया जा सकता। व्याकरण की दृष्टि से 'अनन्य' का अर्थ होता है—जो पूर्व स्थित है उससे भिन्न अथवा जो है उससे भिन्न अथवा भिन्नता-रहित। यह शब्द गीता में भी आया है और वहाँ भी इसका वास्तव में क्या अर्थ है इस पर टीकाकारों की अपनी-अपनी विविध व्याख्याएँ हैं। गुरु को अन्य नहीं होना चाहिए। उसे 'अनन्य' होना है। 'अनन्य' वही है जो उस ज्ञान से, जिसे वह दे रहा है, सम्पृक्त हो, ज्ञान से अनन्य हो। आजकल जो विद्वान्, पढ़े-लिखे प्रोफेसर और आचार्य हैं, ज्ञान के पुञ्ज समझे जाते हैं—

उनकी कथनी और करनी में बड़ा अन्तर है। जो कुछ
पढ़ाते हैं वह जीवन में उतारा हुआ नहीं होता। अतः वे ज्ञा
से 'अन्य' इतर होते हैं तथा जो कुछ वे विद्यालयों में पढ़ाते है
व्यावहारिक जीवन में उससे भिन्न होते हैं। जीवन से विच्छि
ज्ञान निस्सार है, वह आप पर उसी प्रकार का भार बन जात
है जिस प्रकार गधे की पीठ पर ईंटें। जीवन से 'अनन्य' होक
ही ज्ञान मूल्यवान् होता है। पढ़ने, पढ़ाने या सुनने की अपेक्ष
जब ज्ञान को जिया जाता है तभी वह सार्थक होता है। स
और चित् (ज्ञान) एक हैं। आपकी सत्ता, सत् आपके चि
के अनुरूप, जो आप जानते हैं, सिखाते हैं उसके अनुरूप हो
चाहिए। अतः ज्ञान जो ब्रह्मनिष्ठ हैं, सत्यनिष्ठ हैं केवल उन
द्वारा ही दिया जा सकता है। गुरु को श्रोत्रिय और ब्रह्मनि
होना चाहिए। श्रोत्रिय वह है जो शास्त्रों में पारङ्गत हो औ
जिसमें उस ज्ञान को अभिव्यक्त करने की सर्वोत्तम क्षमता हो
ब्रह्मनिष्ठ उसे कहेंगे जो सत्यनिष्ठ हो। व्यावहारिक कार
से गुरु को श्रोत्रिय भी होना चाहिए और ब्रह्मनिष्ठ भी। ब्रह
निष्ठ वह होता है जो ईश्वर से एकाकार हो गया हो; पर
जो ईश्वर से इस प्रकार एक हो जाता है वह ज्ञान प्रदान
साधनों का भी अतिक्रमण कर लेने के कारण प्रायः इस स्थि
में नहीं होता कि दूसरों को ज्ञान दे सके। वह सामान्य दे
चैतन्य से, अभिव्यक्ति के स्थूल लौकिक साधनों से ऊपर
जाता है। श्रोत्रिय पण्डित या उच्च शिक्षित व्यक्ति के सम
होता है। यदि वह ब्रह्मनिष्ठ नहीं है तो सिखाते समय उस
आस्था नहीं होगी। आपकी ज्ञान प्रदान करने की विधि
वजन और शक्ति होनी चाहिए जिससे वह श्रोताओं के अन्त
को प्रभावित कर सके, उनके मन में पैठ सके। यह त

सम्भव हो सकेगा जब आप उस ज्ञान में जी रहे हों और भाषा-शैली द्वारा उसे अभिव्यक्त करने में समर्थ हों।

गुरु में दोहरी योग्यता होनी चाहिए। वह जो कुछ सिखाता है, वह उसका आचरित हो तथा वह जो कुछ जानता है उसे अभिव्यञ्जित करने की क्षमता भी हो। ऐसे गुरु में 'श्रोत्रिय' और 'ब्रह्मनिष्ठ' का पूर्ण सम्मिश्रण होगा। वही 'अनन्य' होगा। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं।

आप ऐसे गुरु के निकट जायें जिन्होंने प्राप्त ज्ञान को अपने आचरण में उतार लिया हो, ज्ञान जिनकी सत्ता का, जीवन और व्यवहार का अविभाज्य अङ्ग बन गया हो तथा जिन पर माँ सरस्वती की वाक्शक्ति की भी कृपा हो; अन्यथा यह सत्य जाना नहीं जा सकता। यह केवल स्वाध्याय द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकता। इसके लिए गुरु की कृपा अपेक्षित है। गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान जीवन्त ज्ञान होता है, शक्ति-सम्पन्न होता है; जबकि पुस्तकीय ज्ञान निष्प्राण ज्ञान है, टीन के डब्बे में बन्द भोजन की भाँति है जिसमें जीवन-पोषण-तत्त्व नहीं होते। शैक्षिक ज्ञान भी ज्ञान है, परन्तु आस्था-रहित होने के कारण वह आपका हृदय परिवर्तन नहीं कर सकता। गुरु द्वारा आपको जो प्राप्त होता है वह सशक्त, सजीव ज्ञान है। गुरु दीक्षा द्वारा, शक्तिपात द्वारा शिष्य में अपने सङ्कल्प को प्रविष्ट करके उसे जो ज्ञान देता है, वह यही है। ज्ञान-दान में गुरु की जो भूमिका है, वह साधारण नहीं है। मन्त्र-दीक्षा की प्रक्रिया को साधारण नहीं मानना चाहिए। यह एक ऐसा रहस्य है जो तर्क से परे और अति-वैज्ञानिक तथ्य है। उपनिषद् इसकी पुष्टि करता है। उपनिषद् में कहीं भी देखें शिष्य को ज्ञान गुरु द्वारा ही

दिया गया है। ज्ञान लेने इन्द्र प्रजापति के पास गये, नारद सनत्कुमार के निकट। शास्त्रों में निष्णात होते हुए भी ब्राह्मण विनम्र भाव से, जाति-श्रेष्ठता की भावना से रहित समिधा लिये हुए ज्ञान के जिज्ञासु बनकर क्षत्रिय राजा की शरण गये हैं। छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित वैश्वानर-विद्या को विद्वान ब्राह्मणों ने एक क्षत्रिय द्वारा ही प्राप्त की थी। जहाँ तक ज्ञान-प्राप्ति का और भगवत्प्राप्ति का प्रश्न है इसमें जाति, वर्ग या सामाजिक श्रेष्ठता का कोई महत्व नहीं है। ज्ञान में अपने से महान् व्यक्ति का हरेक व्यक्ति शिष्य बन सकता है। इसमें सामाजिक श्रेणियाँ बाधक नहीं बनतीं। गुरु अति-आवश्यक है और मन्त्र-दीक्षा अपरिहार्य है। 'अनन्य' शब्द द्वारा कदाचित् इसी भाव को स्पष्ट किया गया है। यह ज्ञान अति-गूढ़ और गहन है।

प्रश्न उठता है ज्ञान है क्या ? क्यों उसे इतना गूढ़ और गहन माना जाता है ? ज्ञान की गूढ़ता वस्तुतः इस कारण है कि यह ज्ञान का विषय ही नहीं है। कोई भी वस्तु जो हमारी मन या बुद्धि से समझी जाने वाली होती है स्थूल मानी जाती है, जिसकी दिक्कालिक अवस्थिति और कारण-सम्बन्ध से व्याख्या हो सकती है। अखिल विश्व दिक्काल-निमित्त से आच्छन्न है। प्रत्येक वस्तु देश-काल के अधीन निमित्त क्रम-शृङ्खला में किसी-न-किसी अन्य वस्तु से जुड़ी है। प्रत्येक पदार्थ कार्य भी है, और कारण भी। वस्तुओं को समझने का हमारा एक यही तरीका है; परन्तु नचिकेता अपने तृतीय प्रश्न में जिस परम गुह्य के सम्बन्ध में पूछता है वह न किसी कार्य का कारण है, न कारण का कार्य है; क्योंकि न वह कुछ उत्पन्न करता है, न वह किसी से उत्पन्न हुआ है, न वह किसी देश (दिक्) में

अवस्थित है, न काल-प्रवाह में विद्यमान है। वह देशकालातीत है। वह कहीं एक जगह नहीं है, प्रत्युत् वह सर्वत्र है और जो सर्वत्र है वह मन द्वारा ग्राह्य (कथनीय) नहीं हो सकता। जो कथनीय नहीं है वह अविज्ञेय भी होगा। मन या बुद्धि द्वारा जो ज्ञान ग्रहण किया जाता है वह सर्वदा व्याख्या-रूप में होता है; परन्तु आवश्यक नहीं है कि व्याख्या शब्दों में ही हो। जब हमारा मन विषय को जानने लगता है तो अन्तर में उसकी एक मनोवैज्ञानिक व्याख्या हो जाती है। किसी विषय की व्याख्या मन की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा वह वस्तु की स्थिति को एक विशेष रूप में समझना चाहता है। अतः जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती उसे जाना भी नहीं जा सकता। इसलिए सत्य चूँकि न देश-काल-आबद्ध है और न कारण-सापेक्ष है; अतः वह न तो मन की युक्तियों द्वारा व्याख्येय है न बौद्धिक साधनों द्वारा जाँचा जा सकता है। यम ने नचिकेता के इस प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं देना चाहा, इसे अब हम समझ सकते हैं। आप इस विषय में कह ही क्या सकते हैं; और वह भी मर्त्यलोक से आये एक छोटे से बालक को जो मात्र जोश में भर कर चला आया है? प्रजापति से इस ज्ञान को प्राप्त करने हेतु इन्द्र को शत वर्ष तपस्या करनी पड़ी थी। उन्हें प्रजापति के पास क्रमशः चार बार जाना पड़ा, प्रजापति फिर भी उन्हें ज्ञान देने को समुद्यत नहीं थे। वे केवल टालते रहे।

जब इन्द्र ने ब्रह्मचर्य-व्रत किया तब प्रजापति ने उन्हें शनैः शनैः इस विद्या में दीक्षित किया। उपनिषद् ज्ञानोपलब्धि के लिए जिस प्रकार गुरु की आवश्यकता का महत्व बतलाते रहे हैं उसी प्रकार इस ज्ञान के अधिकारी के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत धारण का आग्रह भी करते रहे हैं। अनेक स्थलों पर ऐसा

प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्य और ब्रह्म लगभग समानार्थी हैं। जब हम ब्रह्मचर्य कहते हैं तो उससे ब्रह्मज्ञान भी अभिप्रेत होता है। बड़ा ही महत्वपूर्ण है 'ब्रह्मचर्य' शब्द। ब्रह्मचर्य वास्तव में ब्रह्म-आचरण को कहते हैं। 'चर्या' आचरण, व्यवहार, अभिवृत्ति, मनोवृत्ति, रुझान आदि है और 'ब्रह्म' सत्य है; अतः सत्याचरण ब्रह्मचर्य है। जब आपका आचरण सत्य के विपरीत नहीं जाता तो आप ब्रह्मचर्य पालन कर रहे होते हैं; परन्तु सत्य का क्या रूप है, दैनिक आचरण में जिसके विपरीत आपको नहीं जाना है और जिसे ब्रह्मचर्य कहा जाता है ?

सत्य का स्वरूप इन्द्रियातीत है। सत्य इन्द्रिय का विषय नहीं है। इन्द्रियों द्वारा न उसे देख सकते हैं, न सुन सकते हैं, न स्पर्श कर सकते हैं और न आस्वादन ही कर सकते हैं। अतः इन्द्रिय-विषयों की आकांक्षा करना सत्य के विपरीत जाना है। विषयासक्ति-रहित होना ही ब्रह्मचर्य है। भोग की विरोधी मनोवृत्ति ब्रह्मचर्य-मनोवृत्ति है। हमारी आज की क्रियाएँ ब्रह्मचर्य के सिद्धान्तों का खण्डन करती हैं। इसी कारण हम हर प्रकार से इतने अशक्त हो गये हैं कि न देख पाते हैं, न स्पर्श कर पाते हैं, न चल पाते हैं और न बोल पाते हैं; यहाँ तक कि प्रतिदिन का भोजन भी नहीं पचा पाते। हमारी इन्द्रियाँ ईश्वर-सत्ता का खण्डन करती हैं; इसलिए हमारे अन्तर की समस्त शक्तियाँ क्षीण हो गयी हैं। जब आप किसी वस्तु को देखते हैं तो ईश्वर को अस्वीकार करते हैं। ईश्वर को अस्वीकारना और वस्तु का अवलोकन एक ही चीज है। इन्द्रिय-जन्य किसी भी क्रिया में यथा सुनने, देखने, छूने, चखने आदि में आप ईश्वर को अस्वीकारते हैं। अवचेतन मन में आप ईश्वर की अखण्ड सत्ता का खण्डन करते हैं। अतः अर्थव्याप्ति

की दृष्टि से ब्रह्मचर्य इन्द्रिय-विनिग्रह माना जाता है; लेकिन इन्द्रिय-विनिग्रह ही इसका पूर्ण अर्थ नहीं है। समस्त पदार्थों के प्रति आध्यात्मिक अभिवृत्ति ब्रह्मचर्य कहलाती है जिसमें इन्द्रिय-विनिग्रह स्वतः सम्मिलित हो जाता है। जब धूप फैली हो और सूर्य ऊपर चमक रहा हो तब समझा जाता है कि अन्धकार चला गया है। यह एक सुनिश्चित, सजीव और स्फूर्तिदायक स्थिति है। एक शक्ति है जो हमे सूर्य से उपलब्ध होती है, प्रकाश तो होता ही है। अतः ब्रह्मचर्य केवल इन्द्रियों को विषय-विमुख करना मात्र नहीं है; यद्यपि यह भी उसमें सम्मिलित होता है। यह तो अभिवृत्ति (attitude) की आन्तरिक वास्तविकता है। ब्रह्मचर्य द्वारा आप वास्तविक व्यक्ति बन जाते हैं, बिना किसी बाहरी सहायता के अपने में तत्त्ववान्, अर्घवान्। कहा जाता है आप में अपना तत्त्व है। यही ब्रह्मचर्य है। बहुतेरे लोग कार्यालयों से सेवा-निवृत्त हो जाने पर नगण्य रह जाते हैं। उन्हें कोई नहीं पूछता; क्योंकि उनमें उनका कुछ भी नहीं रहता। आन्तरिक योग्यता निश्चयात्मकता है जो आप एक नवीन साधना द्वारा उपलब्ध करते हैं जिसके कारण, चाहे जनता आपकी सर्वथा उपेक्षा करती हो, आप स्वयं में मूल्यवान् रहेंगे। चाहे संसार को आपकी आवश्यकता न हो फिर भी आप आनन्द से भरपूर होंगे; क्योंकि आप उस पर निर्भर नहीं हैं। यह वास्तविकता ही बाहर इन्द्रिय-संयम और आत्म-विनिग्रह-रूप में अपने को प्रकट करती है। अतः ब्रह्मचर्य की उपलब्धि आन्तरिक वास्तविकता तो है ही, साथ ही इन्द्रियजन्य विषयों की लालसा से नकारात्मक मुक्ति भी है। ये ही वे योग्यताएँ हैं जिनसे सम्पन्न होकर ज्ञान-प्राप्ति हेतु गुरु के समीप जाया जाता है और इन योग्यताओं

का अर्जन अति-कठिन है। यम जो कुछ भी कहने को अनिच्छुक थे, उसका यही कारण है।

इस गूढ़तम रहस्य को, रहस्यों के रहस्य को अनुभव में उपलब्ध करने में जो कठिनाइयाँ हैं उन्हें ध्यान में रखते हुए हम नचिकेता के प्रति आचार्य प्रवर यमराज द्वारा कहे अन्तिम शब्दों को समझने की चेष्टा करते हैं। प्रश्न के मुख्य बिन्दु तक आ जाने पर भी यमराम उस पर एकदम नहीं बोलने लगते, प्रत्युत् उस विषय तक शनैः-शनैः पहुँचते हैं। शिक्षण किसी भी कला या विज्ञान का हो, शिक्षण-विधा यही रहेगी। आप किसी भी विषय पर बोलने जा रहे हों या किसी विषय को पढ़ाने जा रहे हों तो एकदम मुख्य विषय पर न आ जायें। यदि ऐसा करेंगे तो छात्रों को समझने में कठिनाई होगी। अतः आपको सुकरात की विधि (प्रश्नोत्तर-विधि) अपनानी होगी। आपको विद्यार्थियों के स्तर पर आकर ऐसी विनम्रता दिखानी होगी कि विद्यार्थियों का ध्यान आपके प्रति तुरन्त आकृष्ट हो जाय। जब भी आप बोलते हैं या पढ़ाते हैं तो आपको अपना नहीं, बल्कि विद्यार्थियों का दृष्टिकोण सामने रखना होगा, तभी आप उन्हें तुरन्त आकर्षित कर सकते हैं, परन्तु यदि आप अपना बड़प्पन और विद्वत्ता दिखाते हैं और ऐसा बतलाते हैं मानो आप बहुत ज्ञानी हैं तो निश्चित रूप से आप एक कुशल मनोवेत्ता नहीं हैं। विद्यालय में भी आप सफल शिक्षक नहीं हो पायेंगे। सफल अध्यापक या गुरु वही है जो अपने विद्यार्थियों या शिष्यों को अच्छी तरह समझता है और उन्हीं के दृष्टिकोण से चल कर अन्त में उन्हें अपनी विचारधारा की ओर मोड़ लेता है। यमराम नचिकेता के मन को क्रमशः निम्न भूमिकाओं से उच्च भूमिका की ओर ले जाते हुए धीरे-धीरे मूल

आशय की ओर ले जाने में विलक्षण शिक्षा-मनोविज्ञान की विधि अपनाते हैं। कठोपनिषद् के कतिपय श्लोकों में इस प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है—

> इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
> महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
> पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः॥
>
> —कठ० : १-३-१०.११

भारतीय तर्कशास्त्र में अरुन्धती-दर्शन-न्याय है। अरुन्धती एक नक्षत्र का नाम है जो आकाश में किसी एक स्थान पर होता है। मान लीजिए, यदि मैं कहना चाहूँ या बतलाना चाहूँ कि उक्त नक्षत्र आकाश में कहाँ पर है तो मैं आपसे कहूँगा—वह है नक्षत्र। जिधर मैं सङ्केत करता हूँ उधर अनेकों नक्षत्रों के दिखायी देने के कारण आप अरुन्धती-नक्षत्र को नहीं पहचान पाते और आप मुझसे पुनः पूछते हैं कि आपने किस नक्षत्र की ओर सङ्केत किया है। तब मैं आपको कुछ इस प्रकार से स्पष्ट करूँगा—'आप सामने के वृक्ष की ओर देखिए। वृक्ष दिखायी देता है न? उसकी एक शाखा उत्तर की ओर गयी है, दिखायी दे रही है न? उस शाखा के ठीक ऊपर एक नक्षत्र दिखायी दे रहा है?' आप कहेंगे—'हाँ, दिखायी दे रहा है।' 'अच्छा, बिलकुल ठीक। उस नक्षत्र के ठीक दाहिने एक और नक्षत्र है?' 'हाँ, है।' 'उसके बिलकुल निकट एक और टिमटिमाता हुआ नक्षत्र दीखता है, न, बस वही अरुन्धती है। अब समझ गये न कि अरुन्धती-नक्षत्र कहाँ है।' यदि मैं सीधे केवल यही कहता—वह अरुन्धती है तो

आप न समझ पाते। यही अरुन्धती-दर्शन-न्याय यम भी लागू करते हैं।

यम नचिकेता से पूछते हैं—'तुम क्या देखते हो?'

नचिकेता उत्तर देता है—'संसार।'

'ठीक है सरलता के लिए हम अभी संसार को ही आधार मान कर चलते हैं। बताओ, इस संसार का ज्ञान किसे है? संसार का ज्ञाता कौन है?'

'संसार की ज्ञाता इन्द्रियाँ हैं।' 'इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सांसारिक ज्ञान से क्या अभिप्राय है?' इन्द्रियाँ सांसारिक पदार्थों की विशेषताओं के सम्बन्ध में ज्ञान सङ्कलित कर सकती हैं। यह सूचनाएँ वे उनसे सीधा सम्पर्क रखकर एकत्र करती हैं; परन्तु आवश्यक नहीं है कि यह 'सीधा सम्पर्क' भौतिक ही हो। उदाहरणार्थ, मैं वृक्ष की ओर देखता हूँ तो मेरे ज्ञान (नेत्रेन्द्रिय) उस वृक्ष के सीधे सम्पर्क में नहीं आते। (वे वृक्ष नामक भौतिक पदार्थ से कई मीटर की दूरी पर होते हैं। अतः किसी अन्य साधन द्वारा ही इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों का ज्ञान ग्रहण करती हैं। उनमें एक ऐसी शक्ति है, क्षमता है कि विना भौतिक रूप से बाहरी पदार्थों के सम्पर्क में आये हुए भी वे उनका ज्ञान ग्रहण कर लेती हैं। इन्द्रियों के कमजोर होने पर ज्ञान भी त्रुटिपूर्ण होता है। इसके विपरीत यदि इन्द्रियाँ सशक्त हैं, तीव्र हैं, गृद्ध-दृष्टि रखती हैं तो ज्ञान अति-स्पष्ट होगा। इस कारण विषय-ज्ञान-ग्रहण की प्रक्रिया में विषय की अपेक्षा इन्द्रिय को अधिक महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए। इन्द्रियाँ भौतिक अवयव नहीं हैं। नेत्र-गोलक नेत्र नहीं हैं, कान का

ार्दा कान नहीं है, जिह्वा आस्वादक-तत्त्व नहीं है तथा नासिका भी वह तत्त्व नहीं है जो सूँघता है। ऐन्द्रिक क्रियाओं में ज्ञान या अनुभव का जो तत्त्व विद्यमान है वह शरीर के अवयव-रूपी इन्द्रियों से भिन्न है। यदि आपका मन अन्तर्मुख हो गया है तो चाहे आपके नेत्र खुले हों आप कुछ नहीं देख सकते। यदि आपका मन कहीं अन्यत्र केन्द्रित है तो आप बन्दूक की आवाज भी नहीं सुन सकते। वस्तुतः इन्द्रियाँ ज्ञान के स्थूल अवयव नहीं हैं। इससे परे भी कुछ है जिसे अर्थ या तन्मात्राएँ कहते हैं। ये ज्ञानेन्द्रियों से उत्तम हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ इन्हीं से रचित हैं। तन्मात्राओं से आगे मन है। यदि मन क्रियाशील न हो तो इन्द्रियाँ किसी भी प्रकार का ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकतीं। यदि मन गड़बड़ा गया तो अनुमान कीजिए क्या होगा? वस्तुएँ दिखायी देंगी; परन्तु समझ में नहीं आ सकेंगी।

यम कहते हैं - इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है। मन की महत्ता ज्ञानेन्द्रियों तथा विशिष्ट वाह्याकार विषयों से कहीं अधिक है; परन्तु यदि मन क्रियाशील हो, पर बुद्धि काम न करती हो तो ऐसी स्थिति में आप वस्तुओं का उचित मूल्याङ्कन नहीं कर सकेंगे। आप पदार्थों को उसी प्रकार देखेंगे जिस प्रकार गाय-भेड़ देखती हैं। उनमें मानवोचित निरीक्षण-परीक्षण की क्षमता नहीं होती। इसी कारण बुद्धि को मन से श्रेष्ठ माना जाना चाहिए।

यहाँ सभी उपलब्ध साधनों के निःशेष हो जाने के कारण हम एक विराम पर आ जाते हैं। बुद्धि के आगे का आप कुछ नहीं जानते। बौद्ध दर्शन में बुद्धि को 'विज्ञान-धारा' कह है। बौद्ध धर्म में बुद्धि-तत्त्व का बड़ा ही विशद विश्लेष

हुआ है। हम बौद्धिकता को आभ्यन्तर चेतना का गतिही कर्म नहीं मानते, प्रत्युत् चलचित्र में आते हुए चित्रों की भाँ एक के बाद एक आते हुए क्षणों के प्रक्रम की प्रक्रिया मान हैं। सिनेमा में आप एक चित्र नहीं देखते हैं, प्रत्युत् एक बाद एक—इस क्रम से आते हुए अनेक चित्र देखते हैं; परन् प्रतीत ऐसा होता है मानो एक अखण्ड धारा प्रवाहित हो वस्तुतः प्रत्येक चित्र के मध्य अन्तराल होता है। फिल्म देखने से दो चित्रों का अन्तर ज्ञात हो जाता है; परन्तु चलचित्र की गति इस प्रकार की होती है कि वह सामने दिखायी देने वाली गङ्गा के प्रवाह के जैसे क्रम का भ्रम उत्पन्न कर देती है। बौद्ध दर्शन कहता है कि 'विज्ञान' 'धारा' है, क्षणों के प्रवाह का अविरल क्रम है। ये क्षण एक दूसरे से जुड़े नहीं हैं; परन्तु प्रतीत ऐसे ही होते हैं। अतः संसार विषयों के किसी नैरन्तर्य से नहीं बना है, वह शक्ति-कणों के क्षणिक जोड़ से बना है। बुद्ध इसलिए संसार को क्षणिक कहते हैं। जिस प्रकार हम वृक्ष को एक ठोस या स्थिर वस्तु कहते हैं, उसी प्रकार पत्थर और मकान ठोस और स्थिर हैं; परन्तु दर्शन कहता है ऐसा नहीं है। वे स्थूल या स्थिर प्रतीत होते हैं। केवल हमारी ज्ञातृत्व-शक्ति और विषयों की क्षणिक स्थिति के अस्थायी ऐक्य के कारण विषयों का अस्थायित्व अथवा क्षणिकत्व मन को ज्ञात नहीं होता; अतः बहिर्गत क्षणिक विषयों के सम्बन्ध में जो हमारे भीतर एक विचित्र क्रिया उत्पन्न होती है उसके कारण मन क्षणिक को ही ठोस और नित्य समझने की भूल कर बैठता है और हम जान ही नहीं पाते कि हमारे अन्तर में वस्तुतः क्या घटित हो रहा है। मन की गति की तीव्रता कभी-कभी विषयों की क्षणिकता की दशा से संयोग कर लेती है, संयुक्त हो जाती है। मानसिक क्रिया की क्षणिकता और वाह्य विषयों की गति

की क्षणिकता में अस्थायी रूप से स्थापित इस समानता के कारण ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हमारे समक्ष स्थूल पदार्थ हैं। वास्तव में ऐसे पदार्थ का कोई अस्तित्व होता ही नहीं। अतः बौद्धिक ज्ञान को वास्तविक ज्ञान नहीं समझा जाता। वह विषय तथा इन्द्रियों की संयुक्त योजना द्वारा खेली हुई चाल द्वारा दी हुई भ्रान्त जानकारी होती है। यमराज कहते हैं—यह पर्याप्त नहीं है अर्थात् बुद्धिजन्य ज्ञान अपर्याप्त है। बुद्धि से परे भी कुछ है।

मानव-बुद्धि से परे उच्चतम ज्ञान है। यह मानव-बुद्धि से श्रेष्ठ है। इसे ही 'महत्तत्त्व' या 'महत्' कहते हैं। वेदान्तिक भाषा से उसे 'हिरण्यगर्भ' भी कह सकते हैं। यह विश्व-बुद्धि व्यष्टि-बुद्धि का योग मानी जाती है। विश्व-बुद्धि का वर्णन प्रायः ऐसा ही कहकर होता है; परन्तु यह कथन सही नहीं है। वह सर्वव्यापी केवल व्यष्टियों का योग नहीं है। आप जानते हैं कि सौ मूर्ख मिलकर भी एक ज्ञानी नहीं बन सकता। इसी प्रकार समस्त व्यक्तित्व भी मिलकर 'विश्व-मन' नहीं बन सकते। महत्तत्त्व या विश्व-बुद्धि तथा व्यष्टिगत बुद्धि के समग्र योग में गुणात्मक अन्तर है। ईश्वर का ज्ञान मानवीय ज्ञान का कुल योग नहीं है। यह नहीं कि यदि प्रत्येक व्यक्ति छींके तो वे कुल छींकें मिलकर भगवान् की एक बड़ी छींक तुल्य हो जायगी। हम सभी छींकते हैं; परन्तु वह नहीं छींकता। विश्व-सत्ता और व्यक्तिगत प्रक्रिया में गुणात्मक अन्तर है। व्यक्तित्व को आप सत्ता कह ही नहीं सकते। वह तो प्रक्रिया है, गति है, सत्ता नहीं। सत्ता केवल परमावस्था है। महत् व्यष्टि-बुद्धि से गुण में उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में प्राप्त ज्ञान और स्वप्न के दृश्य। आप यह नहीं कह सकते

कि आपका जाग्रत अवस्था का ज्ञान स्वप्नावस्था के ज्ञान का कुल योग है; क्योंकि स्वप्न के ज्ञान में गुणात्मक भिन्नता है इसीलिए आप स्वप्न में सम्राट् होने की अपेक्षा जाग्रतावस्था में भिखारी बनना पसन्द करेंगे। विश्व-बुद्धि मानव-बुद्धि से गुणात्मक रूप में भिन्न और श्रेष्ठ है। यमराज कहते हैं कि मानव-स्वभाव जिस मानव-बुद्धि की ओर सङ्केत करता है, हिरण्यगर्भ या महत् आत्मा उससे उच्च है और श्रेष्ठ है। विकास-क्रम मानवीय अनुभव के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता। विकास के दीर्घ क्रम में मानव तो एक कड़ी मात्र है। आपको और आगे चलना है, महत् तक जाना है; परन्तु महत् भी स्वयं में पूर्ण नहीं है। 'अव्यक्त' उससे श्रेष्ठ और महान् है।

'अव्यक्त' वह अगम्य, अवर्णनीय आद्य सत्ता है जिसे हम माया, प्रकृति, 'अव्याकृत' आदि कहते हैं; परन्तु कोई उसके मूल-भाव को स्पष्ट नहीं कर पाता। सृष्टि के इस व्यक्त रूप की पूर्व-कल्पना, पूर्वास्था, अनिवार्यता और कारण 'अव्यक्त' ही है। प्रत्येक कार्य का कारण निश्चित रूप से होता है। अतः यदि सृष्टि को कार्य मान लिया जाय तो नियमतः उसका कोई कारण भी होना चाहिए। सब वस्तुओं का मूल बीज वही है। और इस अन्तिम निमित्त के परे कारणातीत कारण अचल चालक 'पुरुष' है। अव्यक्त के आगे पुरुष है। 'पुरुष' परम है।

यह पुरुष क्या है? जो वास्तव में है उस अन्तिम सत्ता को पुरुष कहा जाता है। हम उसे सत्ता भी नहीं कह सकते; क्योंकि हम जानते हैं कि वह न सत् है न असत् है। वह सत् और असत् दोनों से परे है। कह सकते हैं तो बस यही कह

सकते हैं कि वह चैतन्य है। वह परम सत्ता है, सभी सत्ताओं का सत् है, सत्य का भी सत्य है—'सत्यस्य सत्यम्' है। वह संसार का कारण नहीं है। यदि होता तो अस्थायी हो जाता। यही कारण है कि उसे समस्त सत्ताओं के आदि कारण अव्यक्त से भी उत्तम कहा गया है। वह न कारण है न कार्य। दोनों में न कुछ भी नहीं कह सकते, न सत् कह सकते हैं न असत्। उसे तो केवल होकर ही जाना जा सकता है। अतः यम कहते हैं कि उसे बताना कठिन है। उसे कैसे बताया जा सकता है जिसको हम होकर ही जान सकते हैं। पुरुष को किसी भी

शाश्वत तथ्य है जिसका भूत, वर्तमान या भविष्य नहीं होता वह तो नित्य है सर्वत्र है, प्रतिक्षण है ।

परन्तु कैसे ?

यह कैसे सम्भव है, इसका एक दृष्टान्त दिया जाता है मान लीजिए, आप स्वप्न में देखते हैं कि आप तितली है आप उड़ रहे हैं और अपनी मानव-सत्ता की चेतना को भू गये हैं । आप मनुष्य नहीं रह गये हैं, तितली बन गये हैं अ यहाँ-वहाँ फूलों पर मंडरा रहे हैं । यदि आप मनुष्य बन चाहें तो क्या करेंगे ? जिस मानवता की चेतना आप में हो गयी है, उसे पुनः पाने के लिए आप क्या करेंगे ? मनुष्य बनने के लिए तितली को यत्र-तत्र जाना नहीं पड़ेगा कुछ विचारना ही पड़ेगा । कुछ भी नहीं करना पड़ेग जो कुछ वह है, उससे विमुख होकर, उसे नकारकर केवल अ चेतना को सजग करना होगा । तितली की चेतना को व्यवस्थित करके मानव-चेतना में प्रतिष्ठित कर देना हो इसे ही जागरण कहते हैं । तितली-चेतना जिस क्षण व्यवस्थित हो जाती है, आप स्वप्न से जग जाते हैं और क हैं—'मैं मनुष्य हूँ ।' क्या आप इधर-उधर गये थे ? अपने स्थान से एक इञ्च भी नहीं हिले, लेकिन आप में आ परिवर्तन हो गया । अब वह बिलकुल नहीं रहे, जो तितली से मनुष्य बनने में इस स्थान से उस स्थान तक ज नहीं था । इसी प्रकार ईश्वर की ओर भी जेट वायुया उड़ना या सातवें लोक में जाना नहीं है । यह चेतना स्वरूप-स्थिति है । उसकी आत्म-सत्ता है जो तत्क्षण तत्व अपनी अवस्था बदल देती है, अपना रूप परिवर्तन कर है । अपने को झकझोर कर, प्रबुद्ध होकर, आप यहीं बैठे

वही हो जाते हैं जो आप वास्तव में हैं। अतः 'पुरुष' जो महत् और अव्यक्त दोनों से परे है, नित्य है, अनन्त है और आपकी हृदय-गुहा में आसीन है; उसकी प्राप्ति के लिए देश-काल में भ्रमण करने की आवश्यकता नहीं, केवल विधि जानना आवश्यक है और वह विधि ही वर्णनातीत है। इसलिए यमराज जी कहते हैं, 'हे नचिकेता, इस ज्ञान को पाना महा-दुष्कर है।'

चतुर्थ प्रवचन

जीवन के इस ध्येय तक, विश्व की इस अद्‌भुत संरचना तक, महान् गन्तव्य तक पहुँच पाना सरल नहीं है। उपनिषद् चेतावनी देता है—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।'

—कठ० : १-३-१४

आप इस ख्याल में न रहें कि चुटकी बजाते ही आपको यह दिव्यानुभव हो जायेगा। जाग्रत हो जाइए! उठ खड़े होइए! ध्यान रखिए, जब तक ध्येय की प्राप्ति न हो जाय आपके पग न रुकें, न थमें! मनीषियों की शरण लें और उन्हें आत्मार्पण करके इस तत्त्वज्ञान को जानें, प्राप्त करें।

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।'

—कठ० : १-३-१४

पथ बड़ा ही सूक्ष्म है। मार्ग कठिन है, बीहड़ है, दुर्गम है। अतः इस गुह्य योग के दुर्ग में प्रवेश अत्यन्त दुष्कर है।

अदृश्य होने के कारण हर प्रकार से दुष्कर है। जिस पथ को आप देख सकते हों, उस पर चलने में कठिनाई नहीं होती; परन्तु योग-पथ को तो आप देख नहीं सकते, तब उस पर चलेंगे कैसे ? अतः कभी-कभी आत्मा के इस मार्ग की तुलना पक्षियों के आकाश-मार्ग से अथवा मछलियों के जल-मार्ग से की जाती है। आप न आकाश में पक्षियों के आवागमन के मार्ग का पता लगा सकते हैं, न मछलियाँ जिस मार्ग से जल मे चलती हैं उस मार्ग को ही खोज सकते हैं। ज्ञान का मार्ग भ ऐसा ही है। वह भी दृष्टिगत नहीं होता, यद्यपि वह है अवश्य हम किधर को ले जाये जा रहे हैं, इसे जानने का कोई उपाय नहीं है। 'अव्यक्त' और 'महत्' से भी परे जो 'परम पुरुष है, उस तक पहुँचना किसी नगर के या जगत् के किसी पार्थि स्थान पर पहुँचने जैसा नहीं है। स्थूल अर्थ में उस तक पहु चना या उसे पाने जैसा कुछ नहीं है, उस ओर गति भी न है; अतः उस तक जाने वाला कोई पथ नहीं है।

मुख्य कठिनाई तो हमारे समक्ष यही आती है कि जब उ तक पहुँचने का कोई मार्ग ही नहीं है, साधन ही नहीं है तो उ तक कैसे पहुँचा जाय, उसे हम किस प्रकार प्राप्त करें ?

जीवन-ध्येय को पाने का साधन उस स्थिति में और कठिन हो जाता है जब हम नैतिक रूप से शुद्ध न हों, नैतिक विहीन मन को ही साधना-पथ में कठिनाइयाँ दीखती उपनिषद् कहता है :

'नैषा तर्केण मतिरापनेया।'

—कठ० : १-२-९

तर्क या बुद्धि द्वारा उस लक्ष्य तक नहीं पहुँचा जा सकता केवल मानव-यत्न द्वारा उसे नहीं पाया जा सकता। मानव व तो कभी-कभी ऐसा भी प्रतीत होने लगता है कि उसे पाना ह असम्भव है। महर्षि दत्तात्रेय ने भी अवधूत-गीता के प्रारम्भ में यही कहा है :

'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैत वासना।'

—अवधूत गीता : १

उसका उपलब्ध होना केवल भगवत्कृपा द्वारा ही सम्भव है। जीव में यह दिव्य ज्ञान किस प्रकार उदित होता है, इसका सुस्पष्ट उत्तर शङ्कराचाय जी भी नहीं देते। वे केवल इतना ही कहते हैं कि यह ज्ञान ईश्वर-सङ्कल्प, ईश-कृपा द्वारा ही होता है।

हम भी इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कह सकते।

यह अध्यात्म-पथ इतना कठिन, जटिल और दुरूह है कि इसके सम्बन्ध में जितना ही कम कहा जाय उतना ही अच्छा है। दुष्टात्माएँ अध्यात्म-पथ के महान् रहस्य को नहीं जान सकतीं। जो लोग कुमार्गों पर चलने के आदी हैं, वे भी योग-पथ पर नहीं चल सकते। भावावेश योग-पथ पर आरूढ़ नहीं कर सकता। अतः अन्तर में उद्विग्न, अशान्त और साधारण घटनाओं से भी क्षण-क्षण में विचलित होने वाला व्यक्ति इस पथ को ग्रहण नहीं कर सकता। मानव के व्यक्तित्व के किसी अंश में, किसी प्रकार की भी त्रुटि इस पथ के लिए अयोग्यता मानी जायेगी। उत्तेजना किसी प्रकार की भी हो, उससे बचना चाहिए। हमारे व्यक्तित्व मे शारीरिक, प्राणिक, ऐन्द्रिक,

मानसिक, बौद्धिक अनेक प्रकार की उत्तेजना और अशान्ति रहती है। उसको वश में करना होगा; 'आत्म-विनिग्रह' करना होगा। इसी उपनिषद् में आगे बताया है कि आत्म-विनिग्रह किसे कहते हैं—

'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥'

—कठ० : १-२-२४

जो मन स्थिर नहीं हुआ, वह इस योग-साधना का प्रारम्भिक सोपान भी नहीं छू सकता। आपको एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण बात पर विचार करना होगा और वह यह कि क्या हम लोग सचमुच साधना के योग्य हैं ?

परन्तु आप साधना के योग्य हैं या नहीं, इसकी जाँच आप कैसे करेंगे ?

वे अशान्त मन के साथ आकर साधक श्रोताओं के बीच बं
हैं और मानसिक परेशानियों को लिये ही चल देते हैं। उन
दृष्टि में भी जीवन का कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं रहता।
प्रकार की योग-साधना के लिए, चाहे वह औपनिषदिक यो
साधना ही क्यों न हो, साधक को शान्त और सुस्थिर व्यक्ति
का होना अपेक्षित है। व्यक्तित्व की सुस्थिरता हमारे व्यवह
और आचरण के अनेक रूपों पर निर्भर करती है। साध
में आत्मश्लाघा किसी प्रकार की भी नहीं होनी चाहिए; लेकि
हममें से कोई भी इससे मुक्त नहीं है। तर्क-वितर्क एवं वा
विवाद में हम सदैव अपने पक्ष पर अड़े रहते हैं और प्राय
असहमति के बिन्दु पर ही सहमत होते हैं। इसका एक कार
है। वह यह कि जिस समय हम दूसरों से असहमति प्रक
करते हैं और अपने विचारों को ही उचित और सही मानने
का हठ ठान लेते हैं, उस समय हमारे मन को आनन्द मिलता
है। यदि मैं कहूँ कि किसी भी एक दृष्टिकोण को सही, पूर्ण
सही नहीं माना जा सकता तो अनुचित नहीं होगा। अतः दूसरों
की राय या भावना पर ध्यान न देते हुए पूर्ण एकान्तिक रूप
में अपने ही विचारों पर अड़े रहना मूर्खता है, इससे कोई
लाभ नहीं। यदि दूसरे विश्वास के योग्य नहीं हैं तो आप भी
विश्वासपात्र कहाँ हैं? कथन का आशय है कि सभी दृष्टिकोण
अव्यक्त सत्य के विभिन्न पहलुओं की अभिव्यञ्जनाएँ हैं और
प्रत्येक अभिव्यञ्जना अपने में सत्य है। हमारे व्यक्तित्व में
अशान्ति, व्यग्रता प्रायः बाहर के वातावरण और परिस्थितियों
से मेल न होने के कारण होती है। संसार की जैसी दशा हो
रही है, हम उसे नापसन्द करते हैं। जो व्यक्ति हमारे जैसा
नहीं सोचता उससे हम घृणा करते हैं। यदि कोई घटना या
स्थिति हमें सुख-सुविधा देने में सहायक नहीं है तो हम उसमें

प्रसन्न नहीं रह सकते। हमारी यह नाराज़गी, अप्रसन्नता शब्दों और व्यवहार में तो विरले ही प्रकट होती है, सदैव मन में छिपी रहती है। हम हमेशा ही नाराज़ी की दशा में रहते हैं। हमारी यह एक अलग ही मनोवृत्ति हो जाती है जो न तो हमारे आन्तरिक सन्तोष से मेल खाती है, न ही दूसरे व्यक्तियों की भलाई या सुख-सन्तोष में सहायक होती है। हमारे चेहरों पर हमेशा बारह बजे रहते हैं। श्री शिवानन्द जी महाराज कहा करते थे कि लोग कैस्टर आयल (Castor oil) मुख-मुद्रा बनाये रखते हैं। हम खुश नहीं हैं। हम कभी भी किसी चीज़ से खुश नहीं हो सकते। कहीं भी कुछ हो रहा हो, उसके सम्बन्ध में हमें सदा शिकायत रहती है। यदि वर्षा हो रही हो तो हम शिकायत के स्वर में कहेंगे—'ओह, यह तो वर्षा होने लगी।' यदि धूप तेज़ होगी तो कहेंगे, 'ओफ़, कुम्भीपाक।' आप आगे नहीं जा सकते, आप पीछे मुड़कर भी नहीं जा सकते। न धीमे बोल सकते हैं न ज़ोर से। आप जो कुछ भी करेंगे, उसकी निन्दात्मक आलोचना होगी ही। मनुष्य-स्वभाव अपनी एक सूक्ष्म परन्तु दुष्ट चाल से हमारे प्रयोजन को असफल बना देता है ताकि हम जहाँ हैं वहीं रह जायें।

बाइबिल के प्रकरण में शैतान ईश्वर से पूछता है—'हे पिता, मेरी मुक्ति कब होगी?' शैतान को नरक में रहने का अभिशाप मिला हुआ था। ईश्वर का प्रत्युत्तर, लगता है, इस प्रकार का था—'जब लोग तुम्हारे प्रलोभन में फँसना छोड़ देंगे तब तुम्हें मुक्ति मिलेगी।' इसीलिए कहा जाता है कि जब-जब हम उसके प्रलोभन के शिकार हो जाते हैं, वह रुदन कर उठता है।

शैतान का कार्य है हमारे चारों ओर प्रलोभनों का जाल बिछाना और उसका मोक्ष निर्भर करता है हमारे द्वारा उन प्रलोभनों का ज्ञान करने और सजग रहते हुए उन पर विजय पाने में। परन्तु दुर्भाग्यवशात् हमारे लिए सम्पूर्ण जगत् ही प्रलोभनीय है। लेकिन प्रलोभन का क्षेत्र, जिसे हम संसार कहते हैं, हमारे प्रशिक्षण का क्षेत्र भी है। इसके प्रलोभन एक प्रकार से हमें शिक्षा देते हैं। यह शैतान (लोभ) हमारी बुद्धि में निहित है; अतः इसकी शक्ति केवल बाहर से ही क्रियाशील नहीं होती, आभ्यन्तर से भी होती है। मानव-बुद्धि-रूपी सुदृढ़ दुर्ग इसकी क्रियाओं का केन्द्र है। आपका उत्थान-पतन इसी बात पर निर्भर करता है कि आप वस्तु-तथ्य को किस प्रकार समझते हैं। महाभारत में एक श्लोक है—

'न देवा दण्डं उद्यम्य रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्॥'

'यदि देव हमारी सहायता करना चाहते हैं तो पशुपालक की तरह हाथ में दण्ड लेकर नहीं खड़े होते। यदि हमारी बुद्धि संयोजित हो तो उनका आशीर्वाद प्राप्त हो जाता है।' अभिशाप भी और कुछ नहीं, बुद्धि-भ्रान्ति ही है। हमारा सब से बड़ा दुर्भाग्य वे क्षण होते हैं जिनमें हमारी बुद्धि सम्यक् रूप से विचार न कर सके। हमारे अहं की धारणाएँ योग-साधना में मुख्य बाधाएँ मानी जाती हैं। हमारा समग्र जीवन पूर्व-कल्पित योजना है। शिक्षा और अनुवांशिकता होते हुए भी हम इन प्रलोभनों जैसी दुर्बलताओं से मुक्त नहीं हैं, न हो ही सकते हैं। इसका कारण है। यह अवगुण हमारे व्यक्तित्व की जड़ों में समाया हुआ है। हम इसी के सङ्ग जन्मे हैं। कदाचित् इसे ही मौलिक पाप (Original Sin) कहा जाता रहा

होगा जो हमारे सङ्ग जन्मता है और जिसको लिये हुए हम जन्म लेते हैं। यह हमारी अपनी सत्ता की सीमा है। यही 'राग-द्वेष' कहलाता है। ग़लत धारणा बनाना, नासमझी करना, सामने की वस्तुओं के 'तत्त्व' को न जान पाना 'अज्ञान' है। अज्ञान अविवेक को जन्म देता है और अविवेक से अहङ्कार बढ़ता है। इस अहङ्कार से 'राग-द्वेष' पनपते हैं। 'राग-द्वेष', 'प्रेम-घृणा' द्वन्द्व से स्वार्थपरक कर्म का उद्भव होता है जिसके द्वारा व्यक्ति चाही हुई वस्तु को पाना और अनचाही वस्तु को छोड़ देना चाहता है। यह स्वार्थपरक कर्म ही आवागमन के क्रम में भावी जन्म-मरण का कारण बनता है। जीवन का सबसे बड़ा दुःख यही है और यही मानव-पाश की शृङ्खला की कड़ी है। हमें विपथगामी बनाने वाली इस वृत्ति पर किया गया अनुशासन ही 'आत्म-विनिग्रह' कहलाता है। कठोपनिषद् में इसका वर्णन चित्रात्मक और प्रतीकात्मक ढङ्ग से किया गया है। इसमें आत्म-विनिग्रह की सम्पूर्ण प्रक्रिया तथा योग-सम्बन्धी उच्चतर साधना की पूर्वावस्था का सम्यक् दिग्दर्शन कराया गया है।

आत्मा की तुलना रथारूढ़ सम्राट् से की गयी है। हमारा यह शरीर, यह व्यक्तित्व, यह बाह्य स्वरूप रथ माना गया है जिस पर आत्म-चेतना आरूढ़ है। रथ सारथि द्वारा सञ्चालित होता है, वह सारथि हमारी बुद्धि है। मन की क्रियाएँ वल्गा हैं। इन्द्रियाँ – नेत्र, श्रोत्रादि रथ को खींचने वाले अश्व हैं। अश्वों की सहायता से सारथि रथ को इन्द्रिय-विषय-रूपी राजपथ पर दौड़ाता है। 'आत्मा', 'मन' और 'इन्द्रियों' की संयुक्त क्रिया द्वारा ही यह सब सम्भव होता है।

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥'

—कठ० : १-३-३,

विवरण बड़ा ही सुन्दर और संक्षिप्त है। प्रतीकात्मक नाटकीय और प्रगाढ़ अर्थपूर्ण ! इस रथ को विष्णु के पद तक ले जाना है—'तद्विष्णोः परमं पदम् ।'+ अश्व यदि अड़ियल हैं, थके हुए हैं, आगे बढ़ने के अनिच्छुक हैं या पथ को भली-भाँति नहीं देख पाते तो वे टकराकर रथ को खड्ड में गिरा सकते हैं। कभी-कभी हम भी देखते हैं कि घोड़े ताँगे को घसीटते हुए पीछे को चलने लगते हैं; आगे ही नहीं बढ़ते। तब ताँगे वाला ताँगे से उतर कर रास पकड़ लेता है। घोड़े या तो भरपूर थक जाते हैं या क्षुब्ध हो जाते हैं। यह इन्द्रिय-रूपी घोड़े भी कभी-कभी ऐसा ही व्यवहार करते हैं। रथ भी उत्तम उपादानों से निर्मित होना चाहिए, अन्यथा प्रयोग में आने के कारण घिसते-घिसते उसके भी कल-पुर्जे अलग-अलग हो जायेंगे। रथ की सम्पूर्ण गतिशीलता में रथ-सारथि अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निबाहता है। अर्जुन के रथ को हाँकने में श्रीकृष्ण की भूमिका से आप परिचित हैं। सब कुछ उन पर ही निर्भर था। आपके सम्बन्ध में भी कार-चालक बड़ा महत्वपूर्ण है। आप कार में आराम से बैठे हैं, ऊँघ भी रहे हैं, परन्तु कार-चालक की जिम्मेवारी कितनी अधिक है, जानते हैं आप? आपका जीवन उसके हाथ मे है। वह भी आपकी तरह ऊँघने लगे तो क्या होगा, इसकी आप सहज ही कल्पना

+ कठ : १-३-४

कर सकते हैं। अतः सारथि—हमारी बुद्धि, विवेक, युक्ति वह आदि-क्षमता है जो योग-साधना के क्षेत्र में हमारी प्रगति की मात्रा का निर्णय करती है। ऊपर के श्लोकों में वर्णित रथ की इस गति के विभिन्न पक्षों पर ध्यान दीजिए। इन्द्रिय-विषय मार्ग हैं। इन्द्रियाँ अश्व हैं। बुद्धि सारथि है। आत्मा रथ में बैठने वाला है और देह रथ है। इस विवरण में कोई भी अङ्ग अनावश्यक नहीं है।

सर्वप्रथम रथ की विवेचना करनी । रथ की क्या विशेषता होनी चाहिए? वह सुदृढ़ निर्मित होना चाहिए—'नायं आत्मा बलहीनेन लभ्यो।' + बलहीन व्यक्ति आत्मा को नहीं पा सकता। साधक में जिस बल की अपेक्षा की जाती है, वह हाथी जैसा मांसपेशियों और अस्थियों का बल नहीं है, अन्यथा हाथी ही योग का सर्वोत्तम साधक होता। साधक से चरित्र एवं सत्यनिष्ठा के बल की अपेक्षा है। शारीरिक रूप में भी परिपुष्ट होना आवश्यक है; परन्तु सैण्डो नहीं। शारीरिक बल शारीरिक स्थूलता या शरीर की गुरुता से भिन्न है। कठिनाइयों को झेल लेने की क्षमता को बल कहते हैं। आप द्वन्द्वों को किस सीमा तक झेल सकते हैं, वही आपके व्यक्तित्व के बल की जानकारी है। व्यक्तित्व भी केवल देह नहीं है। उपनिषद् में जिस देह का वर्णन रथ के रूप में हुआ है, वह केवल भौतिक देह नहीं है; प्रत्युत् व्यक्तित्व के पाँचों कोशों, यथा—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों से युक्त शरीर है। उपनिषद् में वर्णित रथ यही शरीर है। इन समस्त कोशों को संयुक्त रहना है और सुदृढ़ तत्त्व का बनना है। रथ के हिस्सों को भी भली-भाँति सन्तुलित रूप में

+ मुण्डक : ३-२-४

संयोजित (जुड़े) होना चाहिए। मान लीजिए यदि पहिये ढीले हों, कसे न गये हों और उनमें से एक इस दिशा को घूमे और दूसरा उस दिशा को, तब रथ की सम्यक् गति नहीं हो सकेगी। उसे लचकीला भी नहीं होना चाहिए। सुडौल और सन्तुलित रूप में निर्मित होना चाहिए। रचना सुगठित होनी चाहिए। उसका ढाँचा बड़ा मज़बूत हो ताकि जीवन के लक्ष्य की ओर गतिशील होते समय होने वाली टूट-फूट को सह सके। इस प्रयोजनार्थ हमें स्वर्णिम साधन कहे जाने वाले आचरण के नियमों को अपनाना होगा। उनका वर्णन गीता के षष्ठ अध्याय में बड़े सुन्दर ढङ्ग से किया गया है। आचरण की समता, व्यवहार का सन्तुलन तथा क्रियाओं में सामञ्जस्य योग-साधना की पूर्व-शपथ है। अति किसी प्रकार की भी हो, योग के विरुद्ध, प्रतिकूल पड़ती है। सभी प्रकार के कार्यों में यथा दैहिक, वाचिक अथवा मानसिक किसी प्रकार का भी कर्म हो योग मध्यम मार्ग है। व्यवहार में हमें समता रखनी चाहिए। दूसरों के प्रति और उसी प्रकार स्वयं के प्रति भी व्यवहार में कभी अति नहीं होनी चाहिए। जब हम बात करें तो अपनी धुन में इस प्रकार करते ही न चले जायँ कि व्यक्ति ऊब जाय और उठकर चले जाना चाहे। यह एक कमी है। जितना आवश्यक है उतना ही बोलो। उचित शब्दों में बोलो। उचित समय, उचित रीति और व्यवस्थित मन से बोलने पर आप अपने उद्देश्य में सफल होंगे। गलत समय, गलत तरीके से गलत बात मत बोलिए। उत्तेजना में ओठों को वक्र और नेत्रों को लाल करके भी मत बोलिए। कार्य के समय अथवा बोलते समय मन को उत्तेजित न होने दें। यह सब व्यक्तित्व के संयम के सम्बन्ध में कहा गया है। इस संयमित, प्रशान्त

स्वभाव में ही उचित सारथि विराजमान् है, ऐसा कह सकते हैं। अर्जुन का रथ अति विचित्र प्रकार से बना हुआ था। सब से ऊपर शीर्ष पर वह हनुमान द्वारा रक्षित था, सम्मुख से श्रीकृष्ण तथा अग्निदेव के आशीर्वाद से रक्षित था। अग्नि-देव ने ही अर्जुन को गाण्डीव प्रदान किया था। उसे त्रिविध आशीर्वाद प्राप्त थे। यदि आप महाभारत का अध्ययन करें तो इसके बारे में विशेष रूप से जान सकेंगे। अस्तु, ऐसा था वह रथ जिसमें महा-धनुर्धर अर्जुन सर्वोच्च ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न सारथि-सहित आसीन था। इसका वर्णन कुछ सीमा तक, यद्यपि भिन्न सन्दर्भ में, कठोपनिषद् भी करता है।

इन्द्रियों के विषय रथ चलाने के मार्ग माने गये हैं। यह कुछ बड़ी विलक्षण बात है इन्द्रिय-विषयों पर रथ को हम कैसे चलायेंगे। इन्द्रिय-विषय क्या हमारे जीवन-लक्ष्य तक पहुँचने का रास्ता है ?

हाँ, है। योग में प्रशिक्षण पाने का क्षेत्र यह संसार ही है। विषयों को हमारी साधना में, हमारे साधनाभ्यास में साधक (सहायक) बनना होगा, बाधक नहीं। योग के तन्त्र नामक एक विशेष सम्प्रदाय में एक अद्‌भुत सिद्धान्त है कि जो वस्तु आपके पतन का कारण है वही आपके उत्थान का कारण भी है—'यैरेव पतनं द्रव्यैः सिद्धिस्तैरेव।'

जो आपको मार सकता है उसका यदि विधिवत् प्रयोग किया जाय तो वह जीवित भी कर सकता है। होमियोपैथ-प्रणाली भी कुछ इसी तरह की है। इस उपनिषद् की योग-पद्धति इन्द्रियों तथा जगत् की ओर अभिमुख होने का बड़ा स्वस्थ उपाय है। आप जानते हैं कि वेदों की संहिताओं में जो मन्त्र हैं वे जगत् को ईश्वर की महिमा और ऐश्वर्य के

प्रकटित रूप में लेते हैं। ईश्वर की महिमा के साकार रूप-सू
का प्राची दिशा में उदय होना, जल-वर्षा, चन्द्रमा का रज
प्रकाश, उषःकाल, सूर्यास्त आदि वैदिक ऋषियों के स्तुति
विषय थे। उनका ईश्वर के प्रति दृष्टिकोण पूर्णतः सुनिश्चि
विधेयात्मक (Positive) था। उसमें नकारात्मक कुछ भ
नहीं था। उपनिषद् वेदों के सुन्दर भावोद्गार का समाप
अंश है; अतः उसमें जीवन के प्रति ऋषियों के विधेयकपरव
सुनिश्चित् दृष्टिकोण का सार-रूप में परिचय मिलता है। यदि
आप प्रमुख उपनिषदों को ध्यानपूर्वक पढ़ें तो ज्ञात होगा कि
जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण बड़ा आश्चर्यजनक था। वे
आपको आनन्द की एक अवस्था से आनन्द की दूसरी अवस्था
में ले जाते रहेंगे। उपनिषदों के लिए अनुभव की प्रत्येक
भूमिका आह्लादजनक होती थी। वहाँ दुःख है न शोक
और न ही नकारात्मकता। गलत दृष्टिकोण के कारण ही
इन्द्रियों के विषय बाधा प्रतीत होते हैं। अपने पुत्र के साथ भी
यदि उचित व्यवहार नहीं करते तो वह भी आपका शत्रु हो
जाता है। पति-पत्नी में भी यदि उचित समायोजन न हो सका
तो वे भी एक दूसरे के विरोधी हो सकते हैं। वस्तुतः संसार
में न कोई हमारा शत्रु है, न मित्र है। दूसरों के सङ्ग हमारा
व्यवहार ही उन्हें हमारा शत्रु या मित्र बनाता है। अन्तरङ्ग
मित्र या अन्तरङ्ग शत्रु जैसी यहाँ कोई चीज नहीं होती। इस-
का अस्तित्व ही नहीं है। हाँ, हम अपनी इच्छा और अभि-
रुचि के अनुसार मित्र या शत्रु पैदा कर सकते हैं। हमारे
परिवारों में, हमारे रक्त-सम्बन्धों में भी शत्रु और मित्र मिल
सकते हैं। पिता और पुत्र में भी मुकदमेबाजी हो जाती है
इसका कारण पारस्परिक त्रुटिपूर्ण मानसिक समायोजन है।

य उन्हीं क्षणों में हमारे शत्रु होते हैं जब हम उनके साथ
व्यवहार नहीं करते। यदि हम उन्हें ठीक तरह से, पूर्ण
से समझ लें तो वे हमारे मित्र हो जाते हैं। साधारण
ुओं की तो बात ही क्या, सर्प पकड़ने वाले तो सर्पों को भी
 कर लेते हैं। सिंह भी पालतू हो जाता है। कठोपनिषद्
योग, इन्द्रिय-विषयों को देहाभिमानी व्यक्तित्व-रूपी रथ
चलाये जाने का मार्ग मानता है और जगत् को योगाभ्यास
सहायक समझता है। प्राकृतिक शक्तियाँ मूलतः साधक की
त्र हैं चाहे प्रारम्भिक स्तर पर वे प्रलोभन ही रही हों और
धक के ध्यान को भङ्ग करने के लिए नाना आकर्षक रूपों
प्रकट हुई हों। क्योंकि पुराण और महाकाव्यों (महाभारत
र रामायण) में हम पढ़ते आये हैं कि रम्भा, उर्वशी, इन्द्र
दि के रूप में प्रकट होकर वे साधना-मार्ग को अवरुद्ध कर
ी हैं। यह प्राकृतिक शक्तियों की प्रतिक्रिया ही होती है।
ारे व्यक्तित्व के रचना-तत्त्वों (घटकों) को भी प्राकृतिक
क्तियाँ ही बनाती हैं। बाहरी जगत् और आन्तर जीवन
मान तत्त्वों से बने हैं। दोनों में एक से गुण और विशेषताएँ
। यही कारण है कि हम जगत् को अनदेखा नहीं कर पाते।
गत् हमारे जीवन का अङ्ग होने के कारण हमारे में समाया
आ है, हमारे साथ है, हममें है; लेकिन गीता के षष्ठ अध्याय
 जैसे कहा गया है—जगत् हमारे लिए बाधा भी बन सकता
। बाधा तो भगवान् भी बन सकता है यदि हम उसके
वधान का पालन न करें या उसे समझ न सकें।

आत्मा शत्रु और मित्र दोनों मानी गयी है—

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।'

—गीता : ६-५

आत्मा आपकी मित्र है और शत्रु भी है। आत्मा शत्रु कैसे हो सकती है? लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण तो ऐसा ही कह रहे हैं। यदि नियमों को हम नहीं मानना चाहते तो वे हमारे लिए आतङ्ककारी हो जाते हैं; परन्तु यदि हम उनका अनुगमन करते जायँ तो वे हमारे रक्षक भी हैं। संसार ईश्वर का विधान है। सत्य का विधान ऋत ही इस सृष्टि-रूप में प्रव्यक्त होता है। संसार की नाना वस्तुओं में भगवान् हमसे बोलते हैं। वस्तुओं द्वारा वह मुस्कराते हैं और यदि अप्रसन्न होने का कारण होता है तो अप्रसन्न भी होते हैं। संसार में जो अगणित वस्तुएँ, वर्ण और ध्वनियाँ हम देखते-सुनते हैं, वे हमारे दैनिक जीवन में भगवद्दर्शन के विविध तरीके हैं। ये ही शिक्षाएँ ईश्वर अपने विराट् स्वरूप, विश्व-रूप द्वारा देते हैं। हमारी दृष्टि पड़ती है तो ईश्वर के मुख पर ही पड़ती है। कहीं कोई इन्द्रिय-विषय नहीं होता। उनका अस्तित्व ही नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ जब अपनी प्रकृति के अनुसार व्यवहार करती हैं और जब इन्द्रियों की क्रिया से हमारी अन्तरात्मा बहिर्मुखी हो जाती है, तब वही विषयों के रूप में भासित होती है। विषय और कुछ नहीं, दिक्काल में आत्म-तत्त्व के प्रक्षेपण हैं। ईश्वर ही यहाँ इन्द्रिय-स्वरूप हो गया है। देशकालिक ब्रह्म-सत्ता ही यह सृष्टि है। जगत् इससे भिन्न नहीं है। सृष्टि भी इससे पृथक् नहीं है, न कोई विषय ही पृथक् है। यह सब तो हमने उस परम सत्य को संज्ञाएँ दी हुई हैं जिसे हम अन्ततः योग-साधना द्वारा पाना चाहते हैं। हम संसार से घृणा करते हैं, उसे कोसते हैं; क्योंकि वह हमें जैसा है वैसा दिखायी नहीं पड़ता। उपनिषद् के अनुसार इन्द्रियों के विषय ईश्वरत्व की ओर ले जाने वाले मार्ग हैं।

कहने का आशय है कि हमें न तो उनसे विमुख होना है, न आकर्षित ही होना है। संसार न हमें प्रलोभित करे, न अस्वीकार करे। संसार से न हमें घृणा करनी चाहिए, न संसार ही हमसे घृणा करे। गीता के बारहवें अध्याय में भी इस तथ्य पर बल दिया गया है; लेकिन कठिन बहुत है ऐसी अभिवृत्ति बना लेना! आप सांसारिक वस्तुओं से पीछे न हटें और न ऐसा आचरण करें कि संसार ही आपसे दूर हट जाना चाहे। यह भी स्वयं में योग ही है; परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब लक्ष्य आपके सामने सुस्पष्ट हो। हमारे में से अनेक साधकों और जिज्ञासुओं के मन में अपना जीवन-ध्येय ही स्पष्ट रूप में अङ्कित नहीं होता। उदाहरण-स्वरूप हम यही नहीं जानते कि पहले हमें भगवत्साक्षात्कार कर लेना है या पहले संसार की सेवा करनी है। बहुत से साधक सोचते हैं कि मानवता की सेवा प्रथम है, ईश्वर-साक्षात्कार उसके उपरान्त। कभी हम विचारते हैं कि मानवता स्वयं भगवान् है; अत मनुष्य मात्र की सेवा भगवान् की सेवा है और इस प्रकार हम अपने जीवन के लक्ष्य को दैनिक जीवन की क्रियाओं से एक कर देते हैं। हमारी अभिवृत्ति की यह अद्भुत विशेषता है कि वह ऐसे कुशल तरीके से जीवन-लक्ष्य का निरूपण करती है जिसमें हम देहाभिमानी अहंवादी व्यक्तित्व को प्रिय लगने वाली उसके अन्तराल में निहित इच्छाओं की पूर्ति में लगे रहते हैं; परन्तु प्रतीत ऐसा होता है मानो जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति में लगे हुए हैं। मनसा-वाचा-कर्मणा अपने समूचे व्यक्तित्व से ईश्वर को चाहना कोई नहीं करता। अपनी सम्पूर्ण सत्ता की सच्ची लगन से ईश्वर को पाने की इच्छा करना असम्भव है चाहे हम स्वयं को ईश्वर के अभिकांक्षी मानते हों; परन्तु अपन

समग्र सत्ता से उसका चिन्तन करना या उसे प्रेम करना असम्भव है। हमारे समक्ष अनेक वस्तुएँ प्रस्तुत हैं जो ईश्वर का स्थान ले लेती हैं और हममें उन्हें ईश्वर मान लेने का भ्रम उत्पन्न कर देती हैं। हम भी ईश्वर की तरह उनकी व्याख्या करने लगते हैं तथा अपने व्यवहार और आचरण का कथन इस प्रकार करने लगते हैं कि उससे मानव-जाति और संसार प्रभावित हो जाय। बहुधा दूसरों से प्राप्त प्रशंसा से ही हम अपनी प्रगति की जाँच भी करते हैं।

यदि संसार भर आपको महान् मानता है तो आपको लगने लगता है कि योग के पथ पर आप बढ़ते जा रहे हैं। अगर समाचार-पत्र आपका जन-नेता के रूप में प्रचार करने लगे तो आपके अन्दर यह भावना तो उदित होगी ही कि आप सही रास्ते पर हैं; अन्यथा सब लोग आपकी प्रशंसा क्यों करते। आप सोचने लगते हैं—'संसार मेरा आदर करता है, मुझे प्रेम करता है, सम्मान देता है, मेरा प्रचार करता है; इसका अर्थ है कि मुझ पर भगवान् की कृपा है, अनुकम्पा है।' आप इस प्रकार सोच सकते हैं; परन्तु भगवान् और भगवान् का प्रेम कैसा है इसे समझने के लिए केवल भगवान् की कृपा चाहिए। गुरु का आशीर्वाद भी साथ हो। इसके लिए कठिन प्रयत्न की आवश्यकता है।

ईश्वर की सङ्कल्पना, जीवन के परम लक्ष्य की धारणा ही योगाभ्यास में सफलता की अन्तिम निर्णायक है। कठोपनिषद् में आत्म-विनिग्रह का प्रसङ्ग 'आत्मानं रथिनं विद्धि'× स्पष्ट कर देता है कि यदि सारथि रास ढीली छोड़ दे और घोड़ों को

× कठ : १-३-३

नमाना चलने की छूट दे दे तो देह का यह रथ डगमगा कर धर-उधर चलने लगेगा। इन्द्रियाँ हमारी बुद्धि को भी ःण्ठित और आच्छन्न कर सकती हैं। इन्द्रियाँ बड़ी बलवान् । अपनी शक्ति के बल पर वे मन और बुद्धि को यहाँ तक भावित कर सकती हैं कि मन केवल इन्हीं की भाषा में सोचने और बुद्धि उन्हीं की भाषा में विषयों को समझने लगें। उपनिषद् इस पतन के सम्बन्ध में हमें सचेत करता है। आत्मा, मन और इन्द्रियाँ एक होने चाहिए—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं'+। वे स्वेच्छाचारी न होने चाहिए अर्थात् इन्द्रियों की क्रियाएँ, मन के विचार और आत्मा की आवश्यकता सब एक दूसरे के अनुरूप हों; प्रतिकूल न हों। यह किस प्रकार सम्भव है?

योग के द्वारा। क्योंकि योग-साधना में ठीक यही अभ्यास निहित है। इन्द्रिय, मन और आत्मा की पारस्परिक अनुकूलता के अतिरिक्त योग और कुछ नहीं है। इन्द्रियों के अनुभव, मन के विचार और आत्मा के गुण आपस में मिल जाने चाहिए। आत्मा के क्या गुण हैं? तत्त्व की अखण्डता, सार्व-भौमिकता, स्वभाव में विषयहीनता, बुद्धि (ज्ञान) और आत्म-परकता (जो बाह्यता और विषयपरकता से भिन्न हैं) परम आत्मा की तात्त्विक विशेषताएँ हैं। अतः आत्मा को मन के विचारों और इन्द्रियों की क्रियाओं पर प्रभाव डालना चाहिए। गीता के कर्मयोग का यही मूलाधार है। कर्मयोग या दिव्यी-कृत क्रियाएँ बाह्य रूप से जीवन का ऐसा आचरण है जो इन्द्रियों की एषणाओं से निर्देशित न होकर अन्तरात्मा से निर्देशित होता है। आत्मा कुछ नहीं चाहती। उसने सब

+ कठ : १-३-४

कुछ ज्ञात कर लिया है; अतः हमारे कार्यों के द्वारा कुछ चाह आत्मा की अपनी आवश्यकताओं के विपरीत पड़ता है। यद्य कर्म कोई भी बुरा नहीं; परन्तु फिर भी उसमें एक बड़ी बुरा आ जाती है। सोद्देश्य होने से उसमें बुराई आ जाती है क्योंकि आत्मा का हेतु कोई नहीं होता, अतः हमारे कार्य का आधार यदि आत्मा हो, कर्मों का वही (आत्मसाक्षात्कार) लक्ष्य हो तो वे केवल आत्मा के लिए ही होने चाहिए; किसी बाह्य उद्देश्य से नहीं। कर्म यद्यपि बाहरी स्तर पर ही होते हैं; परन्तु उनका उद्देश्य अन्तर में आत्मसाक्षात्कार कर आत्मोपलब्धि का होता है। विचित्र है यह योग और अद्भुत है इसकी कार्य-प्रणाली ! कर्मों द्वारा गति बाहरी क्षेत्र में होती है और लक्ष्य आन्तरिक आत्मोपलब्धि का होता है ! आप बाहर दौड़ रहे हैं; परन्तु वस्तुतः अन्तर में गतिशील हैं। यही कर्मयोग है। कर्म बाहर हो रहा है, प्रगति भीतर।

लगता है जैसे आप इस विशाल जगत् में कार्य करते हुए बाहरी वस्तुओं और व्यक्तियों की ओर चले जा रहे हैं जबकि वास्तव में आप उन वस्तुओं और व्यक्तियों में प्रच्छन्न रूप में विद्यमान आत्म-तत्त्व की ओर अभिमुख होते हैं। आत्मा केवल भीतर ही नहीं, बाहर भी है। वस्तुतः आत्मा में न 'बाहर' है न 'भीतर' है। जब यह कहा जाता है कि आत्मा बाहर भी है और कर्मयोग द्वारा इस बाहर के आत्मतत्त्व को पाने का प्रयत्न करना है तो इसका तात्पर्य यही है कि इस विषय-जगत् में आप आगे, पीछे, भीतर, बाहर कहीं भी दौड़ें, पहुँचेंगे उसी बिन्दु पर। अतियाँ जाकर एक ही केन्द्र-बिन्दु पर मिलती हैं। रेखागणित के विशेषज्ञ कहते हैं कि समानान्तर रेखाएँ भी अनन्त पर मिल जाती हैं। समानान्तर रेखाएँ

साधारणतः मिलती नहीं हैं; परन्तु कहा जाता है कि यदि उन्हें अन्तहीन खींच दिया जाय तो मिल जायेंगी। कर्मयोग में कुशलता ही ब्रह्म-ध्यान में कुशलता है। कुशलता होना आवश्यक है। यही कठिन है। इसे रेखाङ्कित कीजिए। उस असीम अनन्त के प्रति बाहर से गतिशील हैं तो आप उस अनन्त असीम के पास भी पहुँच जाते हैं जो अन्तर में है। कठोपनिषद् का यह योग न ज्ञानयोग है, न भक्तियोग है, न कर्मयोग। यह विज्ञात योगों में से कोई भी योग नहीं है। यह असीम और अनन्त का योग है, उसका रहस्यमय पथ है। अन्य तथाकथित योग इसी के विविध पक्ष हैं। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि सब इसी यम द्वारा नचिकेता को बतायी हुई रहस्यमयी विधा की उपशाखाएँ हैं।

पञ्चम प्रवचन

कठोपनिषद् में आत्मा को परम ध्येय की ओर ले जाने वाले मार्ग का वर्णन शरीर-रूपी रथ के माध्यम से किया गया है।

प्रश्न है—यह रथ कैसे चलता है और व्यक्ति अपने गन्तव्य की ओर गतिशील किस विध होता है ?

जीव के परम ध्येय, परब्रह्म की ओर बढ़ने की आभ्यान्तरीण प्रक्रिया साधनाभ्यास या योगाभ्यास कहलाती है। इस विषय पर शास्त्रों में विस्तारपूर्वक लिखा गया है; परन्तु प्रस्तुत उपनिषद् में तत्सम्बन्धी केवल एक ही मन्त्र है—

'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।'

—कठ : १-३-१३

योग का पथ क्रमिक आरोहण और ज्ञानोदय की प्रक्रिया तथा क्रम-मुक्ति को उपलब्ध होने की सुव्यवस्थित प्रणाली है। हमारा बन्धन एक-सा नहीं है। अर्थात् गाय जिस प्रकार एक रज्जु से एक ही खूँटे से बँधी रहती है, आप उस प्रकार खूँटे

से नहीं बँधे हैं। यह जगत्-बन्धन जिसमें हम सभी आबद्ध हैं, अति-दुरूह एवं जटिल है। सांसारिक बन्धन का अर्थ उस अर्थ से भिन्न है जो हम प्रायः दुःख के बन्धन का लगाते हैं। हमारे दुःख बड़े विलक्षण होते हैं और उनकी इस विलक्षणता के कारण ही हम बहुधा अनुभव नहीं कर पाते कि हम दुःख या यातना भोग रहे हैं। उदाहरणार्थ कुछ लोग किसी रोग को दीर्घ काल तक भोगते-भोगते उसके इतना अभ्यस्त हो जाते हैं कि उन्हें वह रुग्ण जीवन सामान्य प्रतीत होने लगता है। आरम्भ में चाहे वह जीवन कष्टदायी लगा हो; परन्तु बाद में वह दुःख-भरा जीवन ही उनके लिए स्वाभाविक हो जाता है।

हमें इस संसार में, इस भूलोक में आये अनन्त काल व्यतीत हो चुका है। हम अनेक प्रकार की योनियों से होकर आये हैं। कितनी ही योनियों से होकर आते हुए अब हमें यह मनुष्य-योनि और मानव-लोक मिला है। पिछली प्रत्येक योनि के — जिन योनियों में हमने जन्म लिया होगा—जो अनुभव होंगे वे सभी अपने में विलक्षण भी होंगे; लेकिन जीवन एक बन्धन है यह अनुभव कदाचित् कभी भी न हुआ हो। आज, इस क्षण, इस समय संसार के धरातल पर रहते हुए हम यह अनुभव नहीं कर पाते कि हम कितने बन्धन-ग्रस्त हैं।

अपने इस बन्धन के प्रति, अपनी इस दुःखद स्थिति के प्रति क्या हम कभी सजग हो सकेंगे ?

जीवन में आमोद-प्रमोद तथा मनोरञ्जन के अनेकानेक अवसर आते हैं। हम अनुभव की जिन अवस्थाओं के आदी होते हैं, चेतना भी उन्हीं की अभ्यस्त हो जाती है। चेतना के इस प्रकार अभ्यस्त हो जाने के कारण ही हम दुःख को सुख

समझ लेने की भूल करने लगते हैं और चूँकि जीवन में अन्तर्निहित कटुता कुछ विशेष परिस्थितियों में ही ऊपरी धरातल पर आकर प्रकट होती है, बहुत से लोगों को जीवन बड़ा सुन्दर लगता है। सामान्यतः मानव-जीवन जटिलता का अद्भुत सम्मिश्रण है; अतः उसके प्रति हमारी अज्ञानता बड़ी गम्भीर अज्ञानता है। इस अज्ञानता को ही सुख का स्रोत समझ लेने से बढ़ कर प्राणिमात्र के लिए और कोई अभिशाप नहीं हो सकता। इसे ही अविद्या कहते हैं। 'अविद्या' का अर्थ स्मृति-लोप या मूढ़ता नहीं है। जिस अज्ञान से हम आवृत हैं, वह विवेकहीनता या चिन्तनहीनता नहीं है; बल्कि उससे भी निकृष्ट है। इसे मन की वैसी सुप्तावस्था भी नहीं कह सकते जिसमें मन बेखबर हो जाता है। यह तो प्रत्यक्ष ज्ञान की विधेयात्मक (Positive) त्रुटि है जिसके द्वारा किसी मिथ्या वस्तु में ही सत्य का भ्रम हो जाता है और अध्यासवश हम उसे ही सत्य मान लेते हैं। यह अनित्य, परिवर्तनशील और क्षणिक विश्व-रचना इसी तरह भ्रमवश सुख का स्थायी स्थिर आवास मान ली जाती है। यह अविद्या सत्य का निषेध करती है, अतः अज्ञान का ही एक रूप है। शारीरिक कलेवर को, स्थूल व्यक्तित्व को तथा जिन सामाजिक परिस्थितियों में हम रहते हैं, उन सामाजिक परिस्थितियों को हम सुख के साधन मान लेते हैं। उन्हीं सब को नहीं प्रत्युत् इस शरीर को भी, जिसके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान नहीं के बराबर है, जिसके सम्बन्ध में हम इतना भी नहीं जानते कि यह किन उपादानों से बना है, लेकिन फिर भी जिसे दिव्य वस्तु की तरह, एक कलाकृति की तरह पूजते हैं और यही चाहते हैं कि सम्भव हो तो उसे निरन्तर दर्पण में निहारते एवं नानाविधि से उसका श्रृङ्गार ही करते रहें।

जीवन के अनुभव कुछ सुखद नहीं होते। मानसिक और
ौद्धिक रूप में हम जिन परिस्थितियों से रात-दिन गुज़रते हैं
सुखदायक नहीं होतीं; परन्तु हमारा यथा-सम्भव प्रयास
ष्टों और दुःखों को सुख बना लेने का तथा नारकीय यन्त्रणा
ो स्वर्गिक सुख में बदल देने का होता है। यहीं पर हम दुःख
ो सुख मान लेने की भूल कर जाते हैं और इस प्रकार की
ाब से बड़ी भूल होती है अनात्मा को आत्मा समझ लेना,
िषय को विषयी मान लेना, वहिर्गत को सार्वभौम, अनित्य
को नित्य तथा जड़ को चेतन मान लेना। सत्य कहें तो हम
सभी की यही मनोदशा है। इससे—इस जटिल बन्धन से हमें
स्वयं को क्रमशः मुक्त कर लेना है। योग का यही उद्देश्य है।
हमें अविद्या और उसके विविध रूपों से मुक्त होना है, साथ ही
साथ स्वयं पर अधिकार करना है।

का कोई पदार्थ नित्य नहीं है। प्रत्येक पदार्थ क्षणिक, परिवर्तनशील और चलायमान है। यहाँ तक कि संसार की सत्ता का हमारा ज्ञान भी मन की एक प्रक्रिया है, मन की क्रियाओं की क्षणिक अवस्था है जिसके कारण कहा जाता है कि हम निरन्तर अनित्यता, नश्वरता और परिवर्तनशीलता में जी रहे हैं; परन्तु हम किसी भी अवस्था में क्यों न हों, हमारे भीतर सदैव लोकोत्तर सत्ता के प्रति एक तीव्र आकांक्षा रहती है। निरन्तर ही अपेक्षाकृत कुछ और पाने की अभिकांक्षा जगती रहती है। जितना प्राप्त होता है, उससे और अधिक माँगते जाते हैं। इस माँगने का या चाहने का कभी अन्त ही नहीं होता। पाश्चात्य दर्शनवेत्ता विलियम जेम्स ने इस प्रक्रिया को अधिकाधिक चाहने की मनोवृत्ति (Philosophy of the More) कहा है। मानव का सम्पूर्ण जीवन अधिक चाहने का ही मूर्त्त रूप है। आपको चाहे कितना ही क्यों न प्राप्त हो जाय, अपर्याप्त ही लगेगा। आपको इस भूमण्डल का स्वामी बना दिया जाय तो आप स्वर्ग के अधिपति होना चाहेंगे और यदि वह भी बन गये तब उससे भी किसी और ऊँचे और महान् पद की अभिलाषा करेंगे। यह अधिकाधिक चाह हमारे अन्तर की उस वृत्ति के कारण होती है जो 'सान्त सत्ता' के पार जाने को गतिशील है, जो हर प्रकार के सीमा-बन्धनों को तोड़कर —मन और शरीर का अतिक्रमण करके वहाँ उस तक पहुँचना चाहती है जिसे हम भुला बैठे हैं और जिसका आज हमें किसी प्रकार का कुछ ध्यान नहीं रहा है।

हमारी सीमाएँ और हमारे बन्धन कुछ इस प्रकार के हैं कि हमें उनके वास्तविक स्वरूप का ही ज्ञान नहीं है; ठीक उस रोगी की तरह जिसे यही ज्ञात न हो कि वह किस रोग से

ीड़ित है ? बन्धन के स्वरूप का ज्ञान न होने से बन्धन वास्तविक हो जाता है। असली चोर वह होता है जो कभी पकड़ाई में न आ सके। जो पकड़ में आ जाता है, वह सही अर्थ में चोर नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यदि आपको ज्ञात हो जाय कि आप किस तरह के पाश में आबद्ध हैं तब आप पाश-बद्ध नहीं रहेंगे, आप उसी क्षण कुछ सीमा तक उसका अतिक्रमण कर जायेंगे, उससे मुक्त हो जायेंगे। परन्तु यह बन्धन तो ऐसा है कि उसमें हम आकण्ठ फँसे हैं। फँसे ही नहीं, फँसे होने के ज्ञान से भी वञ्चित हैं। वस्तुतः यही संसार कहा जाता है।

हमें किञ्चित् ज्ञान नहीं है कि हम किस अवस्था में हैं, इस क्षण हमारी क्या स्थिति है और मोक्ष-प्राप्ति हेतु हमें क्या करना है ? योग-साधना के आत्म-पथ पर उपस्थित होने वाली कठिनाइयाँ मुख्यतः इसी प्रहेलिका से उत्पन्न होती हैं। हमारे बन्धन की बाहरी और भीतरी अनेक परतें होती हैं। जिस प्रकार कालीन बुना जाता है, उसी प्रकार यह बन्धन भी विविध परतों की डोरियों से बुना गया है। यह सघन भी है और चौड़ा भी। आप एक परत उधेड़ेंगे तो उसके नीचे दूसरी मिलेगी। हमारे अङ्गीभूत इस बन्धन में जैविक जटिलता है; अतः योग-साधना की हमारे निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर सीधी गति नहीं है; बल्कि टेढ़ी-मेढ़ी, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे जाने वाली गति-प्रक्रिया है, बिलकुल चक्रव्यूह में प्रवेश करने के जैसी। प्रथम तो उसमें कोई प्रवेश करना ही नहीं जानता और यदि प्रविष्ट हो भी जाता है तो उसमें से निकलना नहीं जानता। आत्म-पथ की साधना में कठिनाइयाँ इसी प्रकार की होती हैं।

बन्धन का ज्ञान हो जाने पर हम स्वयं को अज्ञान-पङ्क में

से झकझोर कर जगा देते हैं और इस प्रकार योग की प्रा
म्भिक सरणी पर प्रथम पग धरते हैं। शतशः तत्त्वों से
इस मानव-पाश का वर्णन खुली पुस्तक की तरह करना ब
कठिन है। अतः इस सन्दर्भ में उपनिषद् जो कुछ कहता है, ह
स्वयं को उसी तक सीमित रखकर इस विषय पर विचा
करेंगे।

ऊपर उद्धृत मन्त्र में ज्ञानेन्द्रियों को समेट कर मन
निविष्ट करना साधना का प्रथम चरण कहा गया है। इतन
ही नहीं, निदेश आगे के लिए भी है—मन को बुद्धि (ज्ञानात्मा)
में समाहित करना और फिर ज्ञानात्मा को महत् आत्मा के
अनुरूप ढालना। इसे विश्वकर्म कहा गया है। इस विश्वकर्म
को शान्तात्मा में अवस्थित करना है जहाँ पहुँच कर जीवसत्ता
परम चैतन्य, मोक्ष, आनन्द—सब अखण्ड-एकरस-सच्चिदानन्द
हो जाते हैं—

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥'

—कठ० : २-३-१०

प्रबुद्ध एवं विवेकशील साधक को अपनी इन्द्रियाँ इस
प्रकार अन्तर्मुखी कर लेनी चाहिए कि वे मनस्तत्त्व के सम
हो जायें। मन और इन्द्रियाँ यद्यपि मिलकर कार्य करते हैं;
परन्तु फिर भी दोनों के कार्य एक रूप नहीं हैं। मन इन्द्रियों
की कार्यप्रणाली से पृथक् रह कर भी दिक्कालिक पदार्थों का
चिन्तन कर सकता है; परन्तु इन्द्रियों को कार्यशील होने के
लिए देश, काल और बाह्यता की अपेक्षा होती है। यदि मन
साथ न दे तो वे कोई भी कार्य नहीं कर सकतीं। इनकी एक

विशेषता और भी है और वह यह कि वे (इन्द्रियाँ) आत्म-केन्द्र की ओर गतिशील नहीं होतीं। वे सदैव बहिर्मुखी, विषयोन्मुखी होती हैं। अतः आप कभी भी उन्हें आत्म-चिन्तन की ओर या निज सत्ता के मूल-स्रोत के ध्यान हेतु नहीं मोड़ सकते। आप कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, इन्द्रियाँ आत्म-चिन्तन नहीं कर सकतीं और न अपनी आधारभूत परम सत्ता का ध्यान ही कर सकती हैं। इन्द्रियाँ मन के ही रूप हैं। एक व्यावहारिक दृष्टान्त देते हुए हम कह सकते हैं कि मन का इन्द्रियों से वही सम्बन्ध होता है जो सूर्य का उसकी रश्मियों से है। यह तुलना कुछ पूर्ण नहीं है तथापि कुछ-न-कुछ समानता अवश्य है। जिस प्रकार सूर्य-मण्डल से रश्मियाँ प्रस्फुटित होती हैं, उसी प्रकार संवेदनात्मक क्रियाओं के रूप में अन्तःकरण से प्रक्षेपण होता है। विषय-सङ्ग से मन इन्द्रिय-रूप हो जाता है। इन्द्रियाँ बाह्य रूपों का चिन्तन करता हुआ मन ही है। अतः उक्त मन्त्र में साधकों के लिए जो साधनाभ्यास का प्रथम सोपान बताया गया है, इन्द्रिय-निरोध है, ताकि मन विषयों की ओर न दौड़ सके और नियन्त्रित एवं स्व-केन्द्रित रहे। ऐसी अवस्था में इन्द्रियाँ मन के साथ मिलकर कार्य करती हैं, बुद्धि विक्षेप या कामनाओं से चञ्चल नहीं होती। व्यक्ति अपनी पूर्णता की अनुभूति करने लगता है। यही ध्यान-योग है।

हम भली भाँति जानते हैं कि ऐन्द्रिक क्रियाओं द्वारा हमारी शक्ति का ह्रास होता है। हमारी ये शक्तियाँ केवल भोजन पर ही निर्भर नहीं करतीं, प्रत्युत् किसी और तत्त्व पर भी करती हैं—

'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥'
—कठ० : २-२

हमारा जीवन केवल प्राण-अपान की श्वास-प्रक्रिया पर निर्भर नहीं, प्रत्युत् उस तत्त्व पर आधारित है जिससे स्व प्राण-अपान भी उद्भूत होते हैं। यह ठीक है कि स्वास्थ रक्षा के लिए भोजन परमावश्यक है; परन्तु स्वास्थ्य केव भोजन पर आश्रित नहीं होता। यदि मन अशान्त हो उत्तमोत्तम भोजन करने पर भी अन्तर-प्रणाली अव्यवस्थि हो सकती है। मस्तिष्क में विद्युत् का एक झटका भी ल जाये तो व्यक्तित्व का पूरा सन्तुलन बिगड़ सकता है।

व्यक्ति की शक्ति उसके भीतर होती है। आपकी श आप में ही है, आपसे बाहर नहीं है। शारीरिक अथवा वै क्तिक बलहीनता का कारण विषयों का सङ्ग उतना नहीं जितना बाह्य जगत् की परिस्थितियों से त्रुटिपूर्ण संयोजन है हमारे दुःख का मूल-कारण हमारी दूषित बुद्धि अथवा हमा निकृष्ट ज्ञान है। जिस प्रकार हम स्वयं के सम्बन्ध में अनजा हैं, उसी प्रकार हमें दूसरों का भी ज्ञान नहीं है। वस्तुतः दूसर को भली भाँति न समझने का सही कारण यही है कि ह स्वयं को ही नहीं समझते। अपने प्रति गलत धारणा बना का अर्थ है दूसरे के सम्बन्ध में भी गलत धारणा बनेगी; क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान हमारी बुद्धि की ही उपज है। साधक को सत्त के विधान में आस्था रखनी चाहिए। उसकी समस्त आव श्यकताएँ उसी विधान द्वारा पूर्ण होंगी। विधान का अनुपालन आपको तत्काल शक्ति देता है; क्योंकि वह आपकी रक्षा करत

है। इसीलिए उपनिषद् कहता है कि इन्द्रियाँ मन की शक्ति हैं; लेकिन वे विषयों की ओर गतिशील हैं। अतः उन्हें मन में ही समाहित करना है। उन्हें मनस्तत्त्व में ही लीन कर देना है जिससे वे स्वयं भी मन बन जायें। इसे ही प्रत्याहार कहते हैं जिसका वर्णन पतञ्जलि के योगसूत्र में भी हुआ है। प्रत्याहार की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि प्रत्याहार और कुछ नहीं, इन्द्रियों का मन के सङ्ग होना है। इन्द्रिय और मन का संयोग प्रत्याहार है। कठोपनिषद् भी यही कहता है।

चेतना का क्रमशः सत्य के निम्न धरातल से उठकर उच्च भूमि तक पहुँचना योग है। विश्व का विकास क्रमशः होता है। योग विश्व की विविध सृजनशील क्रियाओं में विपरीत क्रम लाने की प्रक्रिया है। सृष्टि को यदि किसी कारण का कार्य कहा जा सकता है तो योग को कारण की ओर कार्य की या परिणाम की अधिकाधिक गति या व्यष्टि का समष्टि में प्रत्यावर्तन कहा जा सकता है। कारण को जानने के लिए परिणाम को भली भाँति जान लेना होगा; परन्तु इस प्रयत्न में कार्य को अपने कारण की ओर एकदम तीसरे, चौथे या फिर बिलकुल अन्तिम स्तर पर तत्काल पहुँच जाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। योग के क्षेत्र में डबल प्रोमोशन को स्थान नहीं है। हो सकता है, साधना की उग्रता के कारण आपको ऐसा प्रतीत होने लगे कि आप इस अल्पावधि में ही ध्येय की प्राप्ति कर चुके हैं; परन्तु फिर भी अपने इस साधना-प्रक्रम में आपको साधना के प्रत्येक स्तर से होकर ही जाना पड़ता है। यह प्रक्रिया किस प्रकार सम्भव है, इसे एक सरल उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिए आपके पास एक सहस्र कमल-दल हैं जिन्हें आपने एक के ऊपर एक करके रखा

हुआ है। आप उन्हें एक सूई से बींध देते हैं। अन्तिम दल तक सूई को जाने में कितना समय लगा, बता सकते हैं? सूई तुरन्त भेद कर निकल भी आयेगी। सूई द्वारा उन सभी कमल-दलों का इस प्रकार विधना क्षण भर का काय है; तुरन्त हो गया। परन्तु फिर भी सूई ने प्रत्येक दल को एक के बाद एक के क्रम से बींधा है; अचानक, बिना रञ्च मात्र भी समय लिए नहीं बींधा। इसी प्रकार उच्च कोटि के साधक अल्पावधि में ही कृतकृत्य हो जाते हैं; परन्तु वे भी किसी स्तर को छोड़ नहीं सकते। उन्हें भी प्रत्येक स्तर से होकर जाना पड़ता है। ये स्तर या सोपान हैं--इन्द्रियों के विषय, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, महत् तत्त्व और परमात्मा।

जिसे हम मन कहते हैं, वह संवेदनात्मक क्रियाओं का उपादान कहा जा सकता है। बुद्धि को मन से श्रेष्ठ माना जाता है; क्योंकि उसमें निर्णय की क्षमता अधिक होती है। मन भावुक होता है, बुद्धि विवेक और तर्क-प्रधान। मन उन भावुकतापूर्ण प्रेरणाओं का बण्डल है जो हमारे अन्तर में बाहरी विषय के प्रति जाग्रत होती हैं। बुद्धि मन से श्रेष्ठ है; क्योंकि वह केवल प्रेरणा या भावनात्मक उत्तेजना से क्रियाशील नहीं होती, प्रत्युत् वह विषयों को उनकी स्थिति के औचित्य-अनौचित्य के सन्दर्भ में विवेकपूर्वक समझती है। इसका अर्थ है हमारीक्रियाएँ चाहे किसी प्रकार की हों, बुद्धि से प्रभावित होनी चाहिए। वे नितान्त भावुकता की प्रतिक्रियाएँ न हों। योग-साधन। में इसे एक उच्च सोपान कहा जाता है। विना विचारे कोई पग न बढ़ाइए और परिणाम को सोचे बिना कोई कार्य न कीजिए। हमारी आदत है कि हम बिना सोचे-विचारे एक-दम किसी दिशा में दौड़ पड़ते हैं; सोचते ही नहीं कि क्या

करने जा रहे हैं ? गीता अठारहवें अध्याय के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में चेतावनी देती है। यह कर्म मन की कोई सरल गति नहीं है जो लक्ष्य की ओर उन्मुख है। यह जटिल प्रक्रिया है। जैसा हम पहले विचार कर आये हैं, सम्पूर्ण जीवन ही बड़ा जटिल है, अन्तर्वलयित है। वह परम्परागत बने-बनाये मार्ग पर नहीं चलता। उस पर तो हम आँखें मूँद कर भी चल सकते हैं, लेकिन यहाँ हमें सदैव सावधान रहना पड़ता है। एक पग बढ़ाते समय भी वही सावधानी अपेक्षित है। जब हम कर्म को विवेक पर आधारित करेंगे जीवन तभी योग बनेगा, अन्यथा जीवन बन्धन है। इस सम्बन्ध में भगवद्गीता का यह श्लोक है :

'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥'

आवृत होती है, उसी प्रकार हमारे समस्त आरम्भों में निहि
जटिलता तथा गूढ़ता अज्ञान से दबी रहती हैं।

शारीरिक अवस्था, व्यक्तित्व की योग्यता, मन का स्वभा
कर्म के उद्देश्य का स्वरूप, तत्कालीन इन्द्रिय-शक्ति तथा जि
कार्य को करने जा रहे हैं उसके विभिन्न पक्ष—ये सब तत्त्
तथा प्रत्येक कार्य के मूल में क्रियाशील परम सत्—'दैवं' कम
का सम्पादन करते हैं—'दैवं चैवात्र पञ्चमम्।'

निर्धारक मूल-तत्त्व 'दैव' है, विश्व का विधान-नियन्ता
वही है। मानव-चेष्टा आवश्यक होते हुए भी वही सब कुछ
नहीं है। वह तभी सफलीभूत होती है जब अन्य तत्त्वों को
भी ध्यान में रखा जाय। और तब यह कर्म प्रबुद्ध, आह्लाद-
जनक, युक्तिपूर्वक निर्दिष्ट कर्म हो जाता है। यह इन्द्रियों को
मन में समाहित कर लेने से कहीं ऊँची अवस्था है। व्याव-
हारिक जीवन में इसे ध्यान की अवस्था कहा जाता है; परन्तु
उपनिषद् के मन्त्र में जिस प्रथमावस्था का वर्णन किया गया
है, वह प्रत्याहार और धारणा की जैसी अवस्था है। बुद्धि
अर्थात् विज्ञान को केन्द्रित करना ही ध्यान है। लेकिन इस
उपनिषद् में इस स्थल पर ध्यान का महत्तर लक्ष्य निर्दिष्ट
है।

अध्यात्म का आरम्भ वस्तुतः यहाँ से होता है। अब तक
तो केवल तैयारी मात्र थी। पुण्य कर्म, शुभ कर्म, सदाचार—
ये सब उच्च-स्तरीय योग-साधना की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ
हैं। साधना के आध्यात्मिक तत्त्व में तब निखार आता है जब
बुद्धि या ज्ञानात्मा महत् आत्मा या हिरण्यगर्भ से तादात्म्य कर
लेती है। यह कार्य सरल नहीं है; परन्तु सही रूप में ध्यान

यही है। बुद्धि का महत् से एक होना, उसमें अवस्थित होना तभी सम्भव है जब हम भली भाँति जानते हों कि यह महत् आत्मा क्या है ? सांख्य और वेदान्त में हम महत् शब्द अनेक बार सुनते हैं। महत् प्रकृति से निकला है, वह ज्ञानात्मा या बुद्धि से श्रेष्ठ है आदि कहा जाता है; परन्तु महत् है क्या ? उससे हमारा क्या सम्बन्ध है ? उसके सम्बन्ध में हमें क्या करणीय है, विशेषकर आध्यात्मिक साधना के सम्बन्ध में हम उसके बारे में क्या करें ?

विस्तार नहीं देना चाहिए। सागर की बूँद की भाँति य
मानव की बुद्धि, व्यक्तिगत बुद्धि 'महत् तत्त्व' का ही अंश
परन्तु फिर भी यह तुलना सटीक नहीं है, पूर्ण नहीं है, आंि
है। जब हम कहते हैं, 'रज्जु में सर्प के अध्यास की भाँति ब्रह्म
जगत् का अध्यास है', तब हमारा यह तात्पर्य नहीं होता
ब्रह्म रज्जु (रस्सी) की तरह लम्बा है। यहाँ दृष्टान्त के
एक ही पक्ष को दृष्टि में रखकर दिया जा रहा है, वह
अध्यास का, अन्य किसी गुण का नहीं। बुद्धि पूर्णरूपेण साग
की बूँद की भाँति नहीं होती, लेकिन फिर भी महत् से उसक
सम्बन्ध कुछ वैसा ही होता है जैसा बूँद का सागर से। बूँ
गुण में सागर के समान होती है; परन्तु ज्ञानात्मा महत् आत्म
के समान नहीं होती, यही दोनों में अन्तर है। अन्यथा इस
हाल में बैठे हम लोग भी छोटे-छोटे ईश्वर होते। वह हम
नहीं हैं। हमारे में महत् तत्त्व से भिन्न दूसरा तत्त्व है। यह
तो ठीक है कि महत् हमारे हृदय में अधिष्ठित है, महत् आत्मा
स्वयं हमारी बुद्धि की अन्तरात्मा है और हमारे समस्त विवेक
और चिन्तन की पृष्ठभूमि है; लेकिन फिर भी हमारी बुद्धि
ठीक विश्वात्मा या महत् आत्मा का अंश नहीं है। हमारी
इच्छा साक्षात् दैवी सङ्कल्प का अंश नहीं है; क्योंकि यदि सब
व्यक्ति मिलकर विचार करें तो भगवान् की तरह विचार करने
लगेंगे—ऐसा नहीं है। गुणात्मक दृष्टि से हम उससे निकृष्ट
हैं। गुण में निकृष्ट होने का यह अन्तर प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त
द्वारा बतलाया गया है। हमारे यहाँ दार्शनिक दो वाद हैं—
अवच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवाद। व्यक्ति 'अवच्छेद' भी है,
'प्रतिबिम्ब' भी है। 'अवच्छेद' का अर्थ है परिमित अंश। बूँद
सागर का अंश है, प्रतिबिम्ब नहीं। वह तत्त्वतः सागर का अंश

है, गुण में समान, परन्तु मात्रा में अपेक्षाकृत लघु। परन्तु मान लीजिए, आप अनेक जलपात्रों में सूर्य का प्रतिबिम्ब नाना प्रकार से देख रहे हैं। यद्यपि किरणों का आलोक और द्युति की झलक उन प्रतिबिम्बों में दिखायी पड़ेगी; लेकिन सूर्य के समस्त गुण आप उनमें नहीं देख सकेंगे। इसी प्रकार हमारे में महत् आत्मा की कुछ विशेषताएँ तो होती हैं; परन्तु सब नहीं होतीं। 'महत् आत्मा' की कुछ विशेषताएँ हमारे में हैं, इसी कारण हम उसे उपलब्ध करने की आकांक्षा रखते हैं। यदि हम हर प्रकार से उससे कटे हुए होते, पृथक् होते तो हमें मोक्ष की कामना न होती। हमारे इस नश्वर कलेवर में भी कुछ ऐसा बोलता है जो अविनाशी है, नित्य है और हम इस बन्धन से मुक्त होने के यत्न में जुट जाते हैं; क्योंकि हम महत् आत्मा के अंश होते हुए भी प्रतिबिम्बित अंश हैं, सीमित अंश हैं, अनुकृति हैं। इस कारण मोक्ष-प्राप्ति हेतु हमें अत्यधिक प्रयास करना पड़ता है।

नहीं हैं। इनसे हमारे ज्ञान और शक्ति का गुणात्मक वर्द्धन भ
होता है। योग हमारे व्यक्तित्व में पूर्ण परिवर्तन ले आता है
लोहे से काञ्चन (स्वर्ण) बना देता है। हम तत्त्वत: कुछ औ
ही हो जाते हैं। हमारा दिव्यान्तर हो जाता है। प्रत्येक अथ
में हमारा विकासात्मक वर्द्धन होता है। यह वर्द्धन शिशु से
वयस्क हो जाना नहीं, बल्कि पौधों से पशु और पशु से मानव
हो जाने जैसा है जिसमें ज्ञान और शक्ति की गुणात्मक वृद्धि
होती है। बालक के वयस्क होने में व्यक्ति की प्रजाति अथवा
विचारणा में गुणात्मक कुछ विशेष अन्तर नहीं आता। मानव
मानव ही रहता है। वह नहीं बदलता है। बालक से वह
वयस्क हो गया है, केवल इसी कारण उसके विचारने की पद्धति
में अन्तर नहीं आता; परन्तु जब उसका पशु से मानव में
विकास होता है तब उसके परिप्रेक्ष्य में, बुद्धि में और चिन्तन
के ढङ्ग में परिवर्तन हो जाता है; जीवन का दृष्टिकोण बदल
जाता है।

योग-साधना विकास की प्रक्रिया है। यह विकास-प्रक्रिया
केवल भौतिक या परिमाणात्मक विकास-प्रक्रिया नहीं कही जा
सकती। 'विकास' अत्यन्त सारगर्भित शब्द है—एक सर्वथा
नूतन प्रकार का वर्द्धन विकास, जिससे हमारे तत्त्व मात्र में
परिवर्तन हो जाता है। यह मानवता से दिव्यता में विकास
होता है। हम शनै:-शनै: जगत्-चेतना से भागवत चेतना में
उठते हैं। जिस प्रकार ईश्वर की या जीवन के लक्ष्य की
धारणा स्पष्ट नहीं हो पाती, उसी प्रकार हमें इसका भी ज्ञान
नहीं हो पाता कि योग के कौन-से सोपान हमारे आगे हैं? हम
से जो थोड़ा ही आगे होता है, उसका किञ्चित् आभास हमें
प्राप्त हो जाता है; परन्तु जो बहुत आगे है उसका ज्ञान हम

प्राप्त नहीं कर पाते। योग द्वारा ज्ञानात्मा (बुद्धि) और महत् आत्मा (विश्व-बुद्धि) का तादात्म्य अत्यन्त सूक्ष्म आभ्यन्तर प्रक्रियाओं द्वारा होता है। इससे आगे योग चेतना के विकास का निम्न तल के वन्धनों से मुक्त हो उच्चतम मुक्ति की भूमिकाओं पर आरोहण करने का विशुद्ध आन्तरिक कर्म बन जाता है।

षष्ठ प्रवचन

योग का अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं दुष्कर भाग उस समय आरम्भ होता है जिस समय हम विज्ञानात्मा से ऊपर उठने का यत्न करते हैं। योग-साधना की वह अवस्था, जहाँ से व्यक्ति समष्टि से, सार्वभौम से, तादात्म्य करने का प्रयत्न करता है, सर्वाधिक कठिन है। आत्म-पथ पर जिन अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उन्हें दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—आधिभौतिक एवं आधिदैविक।

मानव-मन आधिभौतिक कठिनाइयों का कुछ अंश तक अनुमान कर लेने की क्षमता रखता है। इन कठिनाइयों का सामना हमें तब तक करना पड़ता है जब तक हम एकाग्र हो ध्यान की भूमिका तक नहीं पहुँच जाते। हमारी बुद्धि की गति इसी स्तर तक है। और जहाँ तक बुद्धि की गति है, हमारी शक्ति की पहुँच भी वहीं तक है। अत: इस सीमा तक आने पर हमारी क्षमताएँ समाप्त हो जाती हैं। हमारे पास जो कुछ भी शक्ति-सम्बल है, नि:शेष हो चुका होता है। अत: आगे प्रयत्न करने का साहस नहीं रह जाता। इस समय व्यक्ति का

अन्तिम आधार उसकी विवेक-क्षमता+ शेष रह जाती है। इस विवेक-क्षमता को ही प्रस्तुत उपनिषद् 'विज्ञान' अथवा 'विज्ञानात्मा' कहता है; परन्तु प्रश्न उठता है कि 'विज्ञान' किस प्रकार 'महतात्मा' तक उठे ?

यहाँ मानव का साधारण प्रयत्न कुछ नहीं कर सकता। व्यष्टि के समष्टि में अनुप्रवेश की यह क्रिया मानव-प्रयत्नों की सम्भावनाओं को स्वतः समाप्त कर देती है और प्रयत्न या चेष्टा की हमारी जो धारणा है, वह सदैव शारीरिक अवयवों, ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को लेकर है। जब कभी भी हम किसी प्रकार के प्रयत्न की चर्चा करते हैं, वह सदैव शरीर और व्यक्तित्व-सापेक्ष होती है। परन्तु प्रश्न है कि ध्यान की उच्चतम भूमिका पर जब हमारा व्यष्टित्व समष्टित्व के वाञ्छित द्रावक में पड़कर पिघलने लगता है, उस समय हमारा क्या प्रयत्न होना चाहिए ? इस भूमिका पर न मन क्रियाशील रह जाता है, न बुद्धि, और न ही कोई ऐसी वस्तु जिसे हम जानते हों: प्रत्युत् एक विलक्षण प्रकार की अचिन्तनीय अलौकिक शक्ति बहुधा क्रियाशील होने लगती है। छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषदों के दो-एक प्रसङ्गों में भी बताया गया है कि अर्चिरादि मार्ग अर्थात् उत्तरायण पथ से ब्रह्मलोक को गमन करती हुई जीवात्मा के लिए एक ऐसा स्तर आता है जहाँ मानव-प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं, तब उस स्थिति में वहाँ क्या घटित होता है इसे उपनिषद् रूपक की भाषा में बताता है। जब तक व्यक्तित्व का, अहं का, बोध है तभी तक प्रयत्न हो सकता है अर्थात् जब तक 'मैं हूँ', 'आप हैं', 'यह है', 'वह है', तब तक सापेक्षिक अथवा व्यावहारिक अर्थ में प्रयत्न

+ निश्चयात्मिका बुद्धि

करने का अवसर रहता है; परन्तु जैसा कि उपनिषद् बताते हैं कि आत्मा के आरोहण में एक स्तर ऐसा भी आता है जब वह सबसे पृथक् एकाकी नहीं रह जाती अर्थात् महाप्रकाशवान् सत्य की खोज में निकली एकाकी किरण नहीं रह जाती। रूपकात्मक ढङ्ग से उपनिषद् कहता है कि उस भूमिका से उसे एक 'अमानव पुरुष' हाथ थाम कर ऊर्ध्व गन्तव्य की ओर ले जाता है। यह 'अमानव पुरुष' कौन है, इसके सम्बन्ध में कोई भी निश्चित् रूप से कुछ नहीं बता सका। कुछ का मत है कि असाधारण रूप में वह 'गुरु' ही आता है। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध भौतिक शरीर के साथ समाप्त नहीं हो जाता। चाहे गुरु अपना भौतिक शरीर त्याग दे या शिष्य ही इस संसार से उठ जाय, गुरु और शिष्य का सम्बन्ध नहीं टूटता। उनका सम्बन्ध शारीरिक या सामाजिक न होकर आध्यात्मिक होता है जो जीवात्मा के ब्रह्म में लीन होने तक बना रहता है। अतः कुछ लोगों की सम्मति में यह 'अमानव पुरुष' स्वयं गुरु है जो आत्मा को परब्रह्म तक ले जाता है। अन्य कुछ लोगों का यह भी विचार है कि 'अमानव पुरुष' स्वयं ईश्वर ही हैं जो 'अमानव पुरुष' रूप में प्रकट होते हैं।

जब विज्ञानात्मा महतात्मा से तदात्म होना चाहती है, उस समय साधारण अर्थ में उसे सांसारिक बोध नहीं रह जाता; अतः वह प्रत्यक्षतः संसार को न देखती हुई कुछ और ही देखती है। अध्यात्म-जीवन में आत्मानुभव अथवा ज्ञान की एक भूमिका, जिसे योगवाशिष्ठ 'पदार्थ-भावना-त्याग' कहता है, कदाचित् इसी स्थिति की सूचक हो। 'योगवाशिष्ठ' के शब्दों में 'पदार्थ-भावना-त्याग' या 'पदार्थ-अभावना' अथवा एक-दूसरे ही अर्थ में 'पदार्थ-भावना' का अर्थ है पदार्थों के मूलभूत तत्त्व

का संज्ञान। यदि हम 'पदार्थ-भावना' शब्द लेते हैं तो उसका अर्थ होगा वस्तुओं की तात्त्विकता या मूल-तत्त्व का संज्ञान जो आत्मारोहण की इस भूमिका से प्रारम्भ होता है और यदि हम 'पदार्थ-अभावना' या 'पदार्थ-भावना-त्याग' के रूप में लें तो उसका अर्थ होगा 'विषयत्व के ज्ञान का अभाव।' पदार्थ-भ व तब घटित होता है जब 'विज्ञान पुरुष' 'महत्' से तदात्म करता है; परन्तु प्रश्न है कि यह घटित किस प्रकार होता है और आपको 'महत्' तक कौन ले जाता है ? आप कहेंगे हमारे प्रयत्न ले जाते हैं; परन्तु नहीं, वहाँ तक आपके प्रयत्न नहीं ले जाते, न ही ले जा सकते हैं।

तब कौन ले जाता है ?

कितना ही अविचल और गहरा हो, आप देखेंगे मन पुनः भूमि
तल पर उतर आता है और उतर कर परिवार, परिजन
कार्यालय तथा इसी प्रकार की अन्य सांसारिक वस्तुओं
सम्बन्ध में सोचने लगता है। यदि व्यक्तित्व की किसी भ
माँग या आवश्यकता की अवमानना की जाती है तो अहं भ
सिर उठाने की कोशिश करने लगता है; परन्तु जिस क्षण
संयोगवश या भगवत्कृपा के कारण हम अपनी चालनाओं--
तीव्र इच्छाओं—पर विजय पाने का प्रयत्न करते हैं (यद्यपि
यह कार्य अति-दुष्कर है), उसी क्षण हम ईश्वर-सत्ता की
गुरुत्वाकर्षण-कक्षा में प्रवेश कर जाते हैं। तब आप आप नहीं
रह जाते और न रह जाते हैं ध्यानकर्त्ता अथवा साधक ! आप
'सर्व' बनने की चेष्टा करते हैं; अतः आप नगण्य—अति तुच्छ-
से प्रतीत होने लगते हैं। महतात्मा आपको अपने परिवेश में
ले लेती है। आप सत्य के एक सर्वथा भिन्न क्षेत्र के निवासी
हो जाते हैं। सत्ता का एक भिन्न प्रकार का तन्त्र आपके योग-
क्षेम का भार ले लेता है। उस क्षेत्र में प्रवेश करने वाले
व्यक्तियों की देख-रेख महत्तत्त्व का विश्व-विधान करता है,
वहाँ सब कार्य स्वतः होते चले जाते हैं, किसी के द्वारा नहीं
होते। कर्त्ता का अस्तित्व न रहने से उस क्षेत्र में हम 'करना'
या 'क्रियाशील' शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते। क्रमशः जब
कर्म का कर्त्ता ही जलते हुए कर्पूर की भाँति निःशेष हो जाता
है, तब प्रयत्न के साथ प्रारम्भ ध्यान भी समाप्त हो जाता है
और हमारा व्यक्तित्व वाष्पवत् विलीन होने लगता है। वह
वैश्वानर अग्नि में होम हो जाता है। इस स्थल पर प्रयत्न
विश्व-प्रक्रिया का अङ्ग बन जाता है। कार्य सद्धर्म में पर्यवसित
हो जाता है और प्रत्येक पदार्थ उस नित्य का क्रिया-क्षेत्र बन

जाता है। नित्यता दृढ़तापूर्वक क्रियाशील हो उठती है और वहाँ ध्यानी या साधक को कहने या करने को कुछ नहीं रह जाता। स्वयं को ही स्तब्ध और आश्चर्यान्वित करने के लिए हम इतना और जोड़ दें कि ईश्वर-सत्ता की आकर्षण-शक्ति संसार की उन तमाम शक्तियों से, जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं, कहीं अधिक है। संसार की समस्त शक्तियाँ मिल कर भी उस शक्ति के एक झटके के बराबर भी नहीं हैं। वस्तुत: वह परम शक्ति है जो अखिल विश्व को स्वयं अपनी ओर खींचती है।

ईश्वर संसार को अपनी ओर किस प्रकार खींचता है?

'सकृद्विभातो ह्येष ब्रह्मलोकः ।'+ इसका यह तात्पर्य नहीं
वहाँ हमारा यही सूर्य प्रकाशित होता है। कठोपनिषद् बत
है : 'वहाँ यह सूर्य नहीं प्रकाशता। सूर्य ही नहीं, प्रत्युत
चन्द्र, ये नक्षत्र तथा यह अग्नि भी वहाँ प्रकाशित नहीं होते
वहाँ तो केवल वही 'नित्य' प्रकाशमान् है—वही जो हमारे
सूर्य के प्रकाश को भी दीप्त करता है।'×

यह महत् तत्त्व का लोक है और इसी में 'विज्ञानात्मा' प्रवे
करती है, 'व्यष्टित्व' 'समष्टित्व' में मिलता है और आप
अखिल विश्व से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सृष्टि में स
से हार्दिकतापूर्वक अपनाया जाने लगता है। आपको दे
विश्व गहरे सन्तोष और असीम आनन्द से खिल उठता है
आप कहीं भी जायँ, सर्वत्र आदर-सत्कार, स्नेह और सहानुभू
पाने लगते हैं। सभी आपको अपना आत्मीय समझने लगते हैं
पाषाण द्रवित होने लगते हैं और वृक्ष-राजि श्रद्धा से झुक
लगती है। महर्षि शुक के साथ भी यही घटित हुआ था। उ
महान् योगी को भी भगवत्कृपा के कारण सौभाग्यवश मह
तत्त्व में प्रविष्ट होने का दिव्य और अद्भुत अनुभव हुआ था।
ऐसा व्यक्ति, 'भागवत पुरुष' कहे जाने वाले व्यक्तियों से भी
कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है। वह किस प्रकार का होता है
उसे आप शब्दों में नहीं कह सकते।

हमारा मस्तिष्क तो महत् के सम्बन्ध में चिन्तन करते ही
चकराने लगता है और उपनिषद् है कि महत् से भी और आगे
ऊर्ध्व दिशा में ले जाता है।

'तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।'

—कठ : १-३-१३

+ छान्दोग्य : ८-४-२ × कठ : २-२-१५

विश्व-सत्ता के परे भी कुछ है; परन्तु वह है क्या ? यदि मन उसका चिन्तन करने लगे तो हृदय अवरुद्ध हो जायेगा और मस्तिष्क अपना कार्य बन्द कर देगा। आपका रोम-रोम पिघल उठेगा। यह वही अनिर्वचनीय, अकथनीय अवस्था है जो सन्त-महात्माओं को आत्मविभोर कर देती थी और वे भावावेश में नाच उठते थे। प्रश्न उपस्थित होता है कि वे आत्म-विभोर कैसे हो जाते थे और क्यों नाचने लगते थे ?

एक अलौकिक आनन्द का प्रवेग उनमें प्रविष्ट हो जाता था। उस प्रवेग को न वे शब्दायित कर सकते थे और न ही आत्मसात् कर पाते थे। अतः वह भावावेग केवल असामान्य व्यवहार के रूप में ही व्यक्त हो सकता था, और उसी प्रकार हुआ।

इस जगह आकर ब्रह्म व्यष्टि को ब्रह्मत्व में ओत-प्रोत कर देता है।

फिर भी महत् के परे कुछ तो अवश्य है। विश्व-सत्ता के परे भी कुछ है। लेकिन वह क्या है या क्या हो सकता है ?

कठोपनिषद् बताता है :—

'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ।'

—कठ : २-३-१२

उस सत्ता के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि 'वह है'; इसके अतिरिक्त उसके विषय में कोई कह ही क्या सकता है ? वह 'विश्व-सत्ता' नहीं है, 'विराट्' नहीं है, 'हिरण्यगर्भ' और 'ईश्वर' भी नहीं है। फिर भी वह है। जब तक उसका होना स्वीकार नहीं करेंगे, उसे पाया कैसे जायगा ? उस सत्ता के बारे में कहने वाले प्रथम व्यक्ति सन्त अगस्तीन थे जिन्होंने कहा था 'जो है वही है' (That which is)। उनके विचारानुसार उस परम सत्ता के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ कहा भी नहीं जा सकता—न कम, न अधिक। और कठोपनिषद् अगस्तीन के जन्म से शताब्दियों पूर्व कह चुका है—अस्ति, अस्तित्व।

इस परम सत्य के स्वरूप की व्याख्या अस्मिता (आत्म-चेतना) भी नहीं कर सकती।

वृहदारण्यक में बताया गया है कि ब्रह्म में आदि सङ्कल्प हुआ, 'अहमस्मि'—मैं हूँ;+ परन्तु विशुद्धात्मा 'मैं हूँ' की अवस्था से भी परे है। वह 'केवल अस्तित्व' है। बौद्ध दर्शन में इसे 'तथाता' कहा गया है। वे इसे 'भूततथाता' भी कहते हैं; परन्तु उस अनिर्वचनीय तत्त्व का वर्णन करने के ये भाषा के कुछ प्रयत्न मात्र हैं। 'भूततथाता', 'अस्तित्व' अथवा 'केवलता'

+ वृहदारण्यक १-४-१

ान्तरात्मा है जो सार्वभौम 'महत्' की अन्तरात्मा के रूप में भी ानुभव और सिद्ध की जाती है।

यदि योग को इस सिद्धि का साधन कहें तो इस साधन को समझना उतना ही कठिन है जितना इसके साध्य को समझना कठिन है। गौड़पादाचार्य अपनी कारिका में इस योग को अस्पर्श योग' कहते हैं। यहाँ योग किसी अन्य वस्तु से मिलन अथवा सम्पर्क के अर्थ में नहीं है। हम प्रायः योग को 'युक्त होने' अथवा 'मिलने' के अर्थ में लेते हैं। यहाँ इस 'महानुभव' में एक पदार्थ दूसरा पदार्थ नहीं बन जाता। तत्त्वतः एक पदार्थ दूसरा पदार्थ बन भी नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ में अपना निजी सत्त्व और गुण रहता है। अतः यह योग 'स्पर्श योग' न होकर 'अस्पर्श योग' अर्थात् ऐसा योग कहा जाता है जिसके 'मिलने' या 'युक्त होने' को स्थान नहीं है। यदि किसी शिशु को ऐसे वातावरण में रख दिया जाय जहाँ से बाहर का कुछ भी देखने को न मिले तो वह भयभीत हो क्रन्दन करने लगता है। वह भयभीत किसी वस्तु को देखकर नहीं होता, प्रत्युत् चूंकि वह कुछ भी नहीं देखता, इसलिए भयभीत हो जाता है।

आत्मा जब 'इसमें' प्रवेश करती है और प्रवेश करने पर बाहर की कोई वस्तु नहीं देख पाती, न कोई सम्पर्क ही कर पाती है तब वह विकम्पित हो उठती है, सिहर जाती है और पीछे हट जाना चाहती है।

पर आत्मा स्वयं से बाहर कुछ नहीं देखती; क्योंकि जिस प
आत्म-सत्ता को देखती है उसमें विलीन होने लगती है।

महर्षि पतञ्जलि ने भी एक सूत्र में इसका वर्णन किया
जहाँ वे कहते हैं कि ध्यानावस्थित चेतन-शक्ति शनैः-श
विषय के गुण से अभिरञ्जित हो जाती है तथा विषय विष
(चेतन-शक्ति) के गुण से।

आपको पहचान कर संसार के पदार्थ आप से अपनी भा
में बोलने लगते हैं। विषयों पर से मुखौटा हट जाता है अ
संसार आपके निकट अपरिचित नहीं रह जाता। जैसे आप
मित्र, परिजन और परिवार के स्वजन आपके आत्मीय होते
ठीक उसी प्रकार से संसार भी आपका आत्मीय बन जाता
और उसी प्रकार स्नेह का व्यवहार करने लगता है। प्रारम
में आप उसी से सम्बन्धित रहते हैं, पर बाद में उसे भूल जा
हैं।

आत्मा का यह मिलन शाब्दिक अर्थ में एक वस्तु का दूस
वस्तु से मिलना जैसा नहीं होता। इस मिलन में विषय
विषय में और विषय विषयी में मिलकर एक हो जाते हैं
एकात्म हो जाते हैं।

प्रश्न उठता है कि ऐसी अवस्था की प्राप्ति के लिए कौन
सी योग-साधना अपेक्षित है?

यहाँ हमारा पथ-प्रदर्शक केवल कठोपनिषद् ही है। इ
उपनिषद् में वर्णित योग आत्मा के संस्कार की, दिव्यान्तर की
अनुपम विधा है। यह कैसी विधा है, इसका सङ्केत कठोपनि
षद् में कई बार दिया गया है। यह वह योग नहीं है जो विश्
की अनेक योग-संस्थाओं में पढ़ाया जाता है; प्रत्युत् यह त

वह योग-साधना-विधि है जो केवल आत्मा द्वारा साधी जा सकती है, मन या बुद्धि द्वारा भी नहीं। आत्मा ध्येय के स्वरूप में स्वयं का ही चिन्तन करती है। अतः प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि ऐसा है तो इस योग में आत्मा क्या करती है ? वह अपने ध्येय को कैसे पहचानती है ?

हो जाता है। इसलिए आपके चिन्तन के सङ्ग हर वस्तु चिन्तन करने लगेगी। आप श्वास लेंगे तो हर चीज़ श्वास लेने लगेगी।

छान्दोग्योपनिषद् में महात्मा रैक्व की कथा आती है। वे अपनी गाड़ी के नीचे पड़े हुए शरीर खुजलाया करते थे। ऐसा प्रतीत होता था जैसे उन्हें और कोई काम नहीं है। वह महा-योगी थे; परन्तु संसार भर में कोई जानता न था कि वे महा-योगी हैं। उस देश का राजा जानश्रुति भी एक बड़ा योगी था। उपनिषद् बताता है कि एक दिन रात्रि में जब जानश्रुति अपने महल की छत पर बैठा था तब दो हंस उधर से उड़कर जा रहे थे। एक ने दूसरे हंस से कहा, 'देखो, उधर न जाना। तुम्हें पता नहीं कि जानश्रुति बड़ा महान् सन्त है। उसके निकट से निकलेंगे तो वह हमें भस्म कर देगा।'

दूसरे हंस ने पूछा, 'यह जानश्रुति है कौन ? तुम तो उसके सम्बन्ध में ऐसे कह रहे हो जैसे वह महात्मा रैक्व ही हो।' दोनों हंसों का वार्त्तालाप जानश्रुति के कानों में पड़ा। वह चौंक गया - 'अरे, ये हंस तो मेरे बारे में ही कह रहे हैं !'

हंसों का वार्त्तालाप चलता रहा।

पहले हंस ने पूछा, 'यह रैक्व कौन है ?'

दूसरे हंस ने उत्तर दिया, 'यदि कोई कुछ सत्कर्म करता है तो वह सन्त रैक्व के खाते में ही जमा हो जाता है।'

यह क्या ? वस्तुतः यही होता है। संसार में जो भी अच्छी, सुन्दर, मूल्यवान्, अद्भुत वस्तुएँ होती हैं, वे सब ऐसे ज्ञानी को ही मिलती हैं, उसी की होती हैं। छान्दोग्य कहता है कि जो

,तत्त्वमसि' योग का अभ्यासी है, उस महापुरुष की ओर सम्पूर्ण संसार आकृष्ट हो जाता है :

'यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासत ।
एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत ॥'
—छां० : ५-२४-५

जिस तरह क्षुधातुर बालक माँ को घेर कर बैठ जाते हैं और भोजन के लिए मचलने तथा ज़िद करने लगते हैं, रिरियाने लगते हैं, उसकी गोद में उछलने-कूदने लगते हैं, उसी तरह जब आप इस महान् सत्य को उपलब्ध हो जाते हैं तब विश्व भी आपको चाहने लगता है, आपके निकट आता है, आपको घेर लेता है, आपके अङ्क में बैठ जाना चाहता है, चरणों में झुक जाना चाहता है। जब आप भी विज्ञान के महत् से मिलन और महत् के शान्तात्मा में लीन होने के इस योग की साधना करेंगे, तब आपके जीवन में भी यह सब घटित होगा।

प्रस्तुत उपनिषद् समस्त मानवता को नित्यता का असीम आनन्द से आप्लावित करने वाला महान् और अद्भुत सन्देश देता है तथा जब हम इस आत्म-पथ पर चलने को उद्यत होते हैं तब वह मातृवत् सावधान होकर पर्याप्त सम्मति भी देता है। साधना का यह आत्म-पथ 'क्षुरस्य धारा' है, 'असि-धारा' है। भला 'असि-धार' पर, तलवार की धार पर चल ही कौन सकता है? परन्तु सच्चे योग का पथ यही है। इस योग में सफलता के लिए आपको जिन परीक्षाओं, संयमों, तपश्चर्याओं से गुज़रना होता है, उनकी व्याख्या करना निश्चय ही बड़ा कठिन है। इसमें शरीर, मन और इन्द्रियों को एक साथ

तपाना पड़ता है। गीता के तृतीय अध्याय के अन्त में इस
की विधि का सङ्केत है। उसमें कहा गया है कि आत्मा
शक्ति, क्षमता और कृपा से ही इन्द्रियाँ और मन विनियमि
होते हैं—'बुद्धेः परं बुद्ध्वा।'×

उक्त श्लोक से तत्काल पूर्व इन्द्रियों को वश में करने
लिए बताया गया है; परन्तु इन्द्रियों को वशीभूत किस त
किया जाय? और कौन कर सकेगा? हम तो उनसे इ
तरह सम्पृक्त हैं कि उन पर कोई अधिकार जमा नहीं सकते
इन्द्रियाँ जो चाहती हैं और जिस प्रकार वस्तुओं को प्र
करती हैं, हम उसी के अनुरूप कार्य करते हैं। ऊँची शक्ति
का प्रयोग किये बिना हम इन्द्रियों पर कैसे दबाव डाल सक
हैं? नैतिकता वस्तुतः सापेक्ष होती है। वह उच्च तत्त्व
परिप्रेक्ष्य में निम्न तत्त्व का भाष्य है। समस्त नीतिशास्त्रों क
यही नियम है। हमारी सफलता इस बात पर निर्भर करती
है कि निम्न तल पर व्यवहार करते हुए हम उच्च तल के
साधनों का किस मात्रा में उपयोग करते हैं। योग-पथ पर
बढ़ने के लिए यदि हमें उच्च शक्तियों से बल नहीं मिलता तो
सफलता कदापि नहीं मिल सकती। ईश्वर को भूल जाने पर
सफलता आकाश-कुसुम हो जाती है। जो कुछ करता है, सब
सर्वव्यापी ईश्वर ही करता है। सब उसी के कर्म हैं। वही
सब के कानों से सुनता, नेत्रों से देखता और वाणी से बोलता
है। हमारी दृष्टि, हमारा श्रवण, हमारा आस्वादन, हमारा
कर्म, हमारे विचार और बुद्धि, यहाँ तक कि हमारा यह अस्तित्व
त्व भी मात्र उसी का अस्तित्व और उसी का कर्म है।

जब यह योग हम पर अधिकार कर लेता है और संसार

× गीता : ३-४३

रे योगक्षेम के लिए तत्पर हो जाता है, तब हमारे निकट आस-पास न दरिद्रता रहती है, न भय की भावना और किसी प्रकार की असुरक्षा। अखिल ब्रह्माण्ड के पहरुए री रक्षा करने लगते हैं। योगवाशिष्ठ कहता है कि स्वयं ाल हमारी रक्षा हेतु सन्नद्ध हो जाते हैं।

यदि ऐसा है तो फिर क्यों हम अहर्निश भोजन आदि की ा में लगे रहें? कैसी तुच्छ और दयनीय बात है! आप त्व से भरपूर हो जायेंगे। आपको पूर्णरूपेण वाञ्छित में मनचाही समस्त वस्तुएँ सुनिश्चित समय पर प्राप्त । इस महायोग की साधना से निष्पन्न होने वाले ये ाविक परिणाम हैं।

सप्तम प्रवचन

कठोपनिषद् का उपपाद्य जीवन और मृत्यु की प्रहेलि से सम्बद्ध माना जा सकता है। जो जीवन का मह प्रश्न हो वह मृत्यु का भी महाप्रश्न है। जीवन एक महा रहस्य है; परन्तु मृत्यु उससे भी अधिक रहस्यमयी मुद्रा हमारी ओर घूरती है। ये दोनों एक ही अनुभव-रूपी सिक के दो पहलू हैं जो हमारे समक्ष महाप्रश्न बन कर खड़े हैं आदि काल से ही हमारे महर्षि तथा मुनि साधकों को सन्तो देने हेतु इन प्रश्नों को सुलझाते एवं इनका समाधान कर आये हैं।

यमराज ने यह कठोपनिषदीय ज्ञान अमर जीवन के अन्वेषक बालक नचिकेता की आकांक्षा के सन्दर्भ में दिया है। जीवन की ओर ले जाने वाली भी मृत्यु ही है। पूज्य श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज के एक गीत का भाव भी यही था— 'जीने के लिए मृत्यु वरण करो' (Die to Live)। जब तक आप आत्महित के लिए मरते नहीं, तब तक अमर जीवन नहीं जी सकते। ईसा कहते हैं—'जब तक पुनर्जन्म लेकर तुम बालकों जैसे सरल नहीं बन जाते, स्वर्ग में प्रवेश नहीं पा

सकते।' सभी महापुरुषों के विचार प्रायः एक से होते हैं। अतः यमराम द्वारा भी इस उपनिषद् में एक ओर सांसारिक जीवन के रूप में जो मूलभूत रहस्य है, उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है और दूसरी ओर मरणोत्तर जीवन के निगूढ़ रहस्य को स्पष्ट करने की चेष्टा की गयी है।

हम इहलोक और परलोक में अन्तर समझते हैं; तथा जीवन और मृत्यु में भिन्नता देखने के अभ्यस्त हैं। हम जीवन और मृत्यु को सर्वथा दो भिन्न वस्तुएँ समझते हैं। इसीलिए हमें जीवन से प्रेम और मृत्यु से घृणा है। किसी भी व्यक्ति के लिए फाँसी की सजा, प्राणदण्ड सबसे कठोर दण्ड होता है। प्रतीक्षित मृत्यु का चिन्तन करने से अधिक त्रासदायक कुछ नहीं होता। यदि अनुभव के सङ्ग भय की भावना मिश्रित हो तो वह साक्षात् मृत्यु है, परन्तु जीवन हमें अमृत-प्रवाह सदृश लगता है। वस्तुतः न हम जीवन को ही जानते हैं और न मृत्यु को ही पहचाते हैं। यही कारण है कि मृत्यु हमें भयावह लगती है। खिलौनों के प्रति बालकों का प्रेम किसी युक्ति पर आधारित नहीं होता; परन्तु मनोविज्ञान उस प्रेमाकर्षण का कारण स्पष्ट कर देता है। हमारा प्रेम और घृणा, राग और द्वेष बाहर से मिलने वाली तात्कालिक प्रेरणा की बचकानी प्रतिक्रियाएँ होती हैं। हमारा अनुभवहीन मन अपने निरीह अनुभव की भाषा में जो कुछ कहता है, हमें चाहिए कि हम उसे अधिक गम्भीरतापूर्वक न लें।

यह उपनिषद् इन्द्रिय-तुष्टि का आग्रह उत्प्रेरित नहीं करता; प्रत्युत् जो कुछ कहता है उसमें जीवन का रहस्य है। 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ ही है—हमारी आन्तर सत्ता के गुह्य ज्ञान का उपदेश। हम सुनते आये हैं कि उपनिषद् वेदों का सार हैं। वेद

यदि ज्ञान हैं तो उपनिषद् उस ज्ञान का सार तत्त्व हैं। ज्ञान किसी विषय का होता है और विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) (Wisdom) वस्तुओं में अन्तर्भूत परम सत्य का। उपनिषदों के मूल-वस्तु और अन्तर्तत्त्व सामान्यतः यह विज्ञान ही होता है। यही अन्तर्तत्त्व कठोपनिषद् का भी होने के कारण नचिकेता और यमराज के प्रश्नोत्तरों में जो गाम्भीर्य गर्भित है, उसे समझना हमारे लिए सरल हो जाता है। नचिकेता की उत्कण्ठा, उसके प्रश्न, प्रश्नों में भरी जिज्ञासा का विषय—सब कुछ जीवन के व्यापक अनुभव को निहित किये हुए हैं और ऐन्द्रिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान के तीन स्तरों से सम्बन्धित हैं। तीन दिन का उपवास, तीन प्रश्न और तीन ही वरदान तीन प्रकार के उन अनुभवों के उन स्तरों से सम्बन्ध रखते हैं जिनसे होकर जीवात्मा या व्यक्ति के नाते हम गुजरते हैं। बुद्धि, विवेक और अन्तर्प्रज्ञा; प्रत्यक्षीकरण, संज्ञान और अनुभव; इन्द्रियाँ, मन और आत्मा अनुभव के मुख्य तल हैं। नचिकेता के प्रश्न मानवात्मा की खोज के इन तलों से सम्बन्धित हैं। यमराज ने इन्हीं प्रश्नों के उत्तर वरदान-स्वरूप दिये हैं। ये उत्तर विश्वात्मा द्वारा जीवात्मा को दिये गये उत्तर हैं। यहाँ जीवन और मरण के प्रश्नों को, समस्याओं को सुलझाने के हेतु ईश्वर मानव से कथन कर रहा है, निरपेक्ष सापेक्ष में प्रविष्ट हो रहा है। आखिर मृत्यु है क्या?

देह और इन्द्रियों के अनुभवों से बँधे हम मरणधर्मा मानवों के लिए तमाम मूल्यों का विनाश ही मृत्यु है और यही कारण है कि हम मृत्यु से भयभीत होते हैं। मृत्यु की स्थिति हमारे समस्त प्रिय और निकट सम्बन्धों के अभाव की परिस्थिति होती है। समस्त आनन्दोपभोग से वञ्चित होना, यहाँ तक

कि अपने स्वयं के अस्तित्व को भी नकार देना। हमारा अस्तित्व नगण्य हो जाता है, सब निःशेष हो जाता है। कुछ नहीं रहता। सब खत्म! इसी को हम मृत्यु समझते हैं। यहाँ तो स्वयं मृत्यु (यमराज) ही गुरु है।

यदि सब वस्तुओं का अभाव ही मृत्यु होती तो उससे आप कुछ नहीं सीख सकते थे। जीवन की सबसे महान् शिक्षक मृत्यु है। जीवन शिक्षार्थी है, मृत्यु शिक्षक। कालिदास ने रघुवंश में एक सुन्दर घटना का उल्लेख किया है। राजा अज की रानी इन्दुमति थी जिसे वे बहुत प्रेम करते थे। एक दुर्घटनावश अकस्मात् इन्दुमति की मृत्यु हो गयी जिससे राजा अज को बहुत गहरा आघात पहुँचा। रोते-विलाप करते वे अपने गुरु वशिष्ठ से बोले--'महर्षि, ऋषिवर, देखिए मुझ पर कैसा दुर्भाग्य आन पड़ा है!' वशिष्ठ अल्पभाषी थे। उन्होंने केवल यही कहा, 'स्वाभाविक तो मृत्यु ही है। जीवन जो है वही अस्वाभाविक है।' आश्चर्य तो यही है कि हम जीवित कैसे हैं? मृत्यु कोई आश्चर्य नहीं है। हम श्वास-प्रश्वास लेते हैं, यही रहस्यमय है। मृत्यु के अधीन होना हमारे व्यक्तित्व की स्वाभाविकता है।

था। वह इतना नादान नहीं था कि ऐसा सरल-सा प्रश्न पूछ कि इस शरीर को छोड़ने पर आत्मा कहाँ जाती है। इस सम्बन्ध में हम पहले भी कह चुके हैं कि नचिकेता अपने प्रश्न में जिस मरण की बात कहता है, वह सर्वथा भिन्न प्रकार का है। अनुभूत्यात्मक ढङ्ग से कहें तो जीवन और मृत्यु में किसी प्रकार का मौलिक अन्तर नहीं है। जीवन और मृत्यु तथा मृत्यु और जीवन में एक तारतम्यता है, अविच्छिन्नता है। जब अनुभव अपने विभिन्न स्वरूपों में से गुजरता है, उस समय पूर्वानुभव और पश्चाद्वर्ती अनुभव का संरचनात्मक अन्तर जीवात्मा की चेतना में गत अनुभवों का विस्मरण पैदा कर देता है और जब यह चेतना आगामी अनुभवों से जुड़ जाती है तो उसे लगता है कि जैसे वह इस संसार में नये जीवन के साथ उत्पन्न हुई हो। वस्तुतः उसमें परिवर्तन कुछ भी घटित नहीं होता। वह (चेतना) केवल पूर्वानुभवों को विस्मृत कर नवीन प्रकार के अनुभवों के प्रति सजग हो जाती है।

मृत्यु एक प्रकार का विस्मरण है जो कुछ विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति पर हावी हो जाता है और जैसा बताया जा चुका है कि ये परिस्थितियाँ एक कोटि के अनुभवों तथा उनके तत्काल बाद में आने वाले दूसरी श्रेणी के अनुभवों में संरचनात्मक अन्तर होने से उत्पन्न होती हैं। यही कारण है कि हम अपने पिछले अनुभवों को स्मरण नहीं कर पाते। इस संसार में और इस देह में आने से पूर्व हम क्या थे, यह सर्वथा भूल जाते हैं। यह विस्मृति चेतना के किसी विशेष शारीरिक कलेवर में आबद्ध होने के कारण तो होती ही है, साथ ही पूर्ववर्ती एक वर्ग के अनुभवों से सम्बन्ध टूट जाने तथा पूर्ववर्ती दैहिक व्यक्तित्व से, अहंता से पृथक् हो जाने के कारण भी होती है।

ठीक यही पुनः घटित होगा। इस शरीर के छूट जाने पर अनुभवों का पुनरावर्तन होगा। शरीर छूटना हमारी व्यक्तिगत चेतना को ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसी का अभाव हो गया हो। जहाँ तक हमारे व्यावहारिक अनुभवों का सम्बन्ध है, देहगत चेतना ही हमारी चेतना है, अतः जब देह-त्याग होता है तो हमारी शिराओं में एक धक्का-सा लगता है। शरीर, शिराएँ और मन एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। इसलिए मृत्यु एक धक्के की तरह, एक सदमे की तरह लगती है। मृत्यु का अनुभव बड़ा अप्रत्याशित होता है, उसके लिए हम पहले से ही तैयार नहीं होते। अप्रत्याशित जो कुछ भी आता है, वह आश्चर्य पैदा करता है। यदि मृत्यु की पूर्व सम्भावना हो तो वह इतनी त्रासदायक न लगे। अगर हमें पहले से ही ज्ञात हो जाये कि भूकम्प आने वाला है और हम उसका ग्रास बनने वाले हैं तो हम उतना आतङ्कित नहीं होते जितना अचानक ही ऐसी घटना घट जाने पर होते हैं। हम मृत्यु के आने की आशा कभी नहीं करते। हम जानते हैं कि वह किसी भी समय घट सकती

जीवन और मृत्यु मूलतः पृथक्-पृथक् अनुभव नहीं स्मृति बनी रहने पर जिस अवस्था को हम निद्रा कहते स्मृति लुप्त होने पर उसी अवस्था को मृत्यु कहा जाता एक भिन्न दृष्टिकोण से नूतन देहगत अहं के अनुभव को मृत्यु कहते हैं। यह सब मन की इच्छाओं द्वारा घटित हं है और इच्छाएँ अनन्त हैं।

हम इच्छाओं के कारण ही मरते हैं और उन्हीं के का पुनर्जन्म पाते हैं। इच्छाएँ हमारी प्रवृत्ति को एक विशि प्रकार के अनुभवों की ओर प्रेरित करती हैं। ये प्रेरक ह जिन्हें हम इच्छाएँ कहते हैं, कुछ विशेष प्रकार के स्थूल भौति पदार्थों का सङ्ग चाहते हैं। विषयों के सम्पर्क में आने का म का यह नाटकीय प्रयत्न ही जीवन के नाम से अभिहित कि जाता है। जिस प्रकार की देह में कोई जन्म लेता है और इ जीवन में वह समाज के सङ्ग जिस प्रकार के सम्बन्धों से जु जाता है, यह सब कार्य उसकी जन्मजात इच्छाओं से निर्धारि होता है। इन इच्छाओं को प्रारब्ध कर्म कहते हैं। 'प्रारब्ध और कुछ नहीं, उन इच्छाओं की शक्ति होती है जो पूर्व-जन्म में पूर्ण नहीं हो पातीं और जिन्हें इस जन्म में इस देह-यष्टि मे पूर्ण होना है। इसी देह-यष्टि के माध्यम से प्राप्त अनुभवों द्वारा इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं और इच्छाओं के निःशेष हो जाने पर शरीर छूट जाता है।

अतः मृत्यु प्रारब्ध नामक इच्छाओं की प्रवर्तक शक्ति के निःशेष हो जाने को कहते हैं। इसके उपरान्त वे इच्छाएँ इस शरीर द्वारा फलीभूत नहीं हो सकतीं। किसी रङ्ग-शिल्पी (अभिनेता) द्वारा उसकी भूमिका विशेष के सम्पन्न हो जाने के उपरान्त, उसके अभिनय के अंश की समाप्ति पर जब उसके

अभिनय की आवश्यकता नहीं रह जाती, तब यवनिका-पात हो जाता है। इसी प्रकार जो शरीर या वर्तमान देह-यष्टि हमें मिली है, जिसके सङ्ग हमने जन्म लिया है, वह मन द्वारा पूर्व-जन्म की उन इच्छाओं के अनुभवों की संवाहक है जिन्हें इस जीवन की इस सांसारिक अवस्था में ही पूर्ण होना है। अनुभव के अन्त हो जाने पर अनुभव द्वारा इच्छाओं के वर्ग-विशेष की समाप्ति के अनन्तर शरीर छूट जाता है। अतः विकास-क्रम में मृत्यु एक स्वाभाविक घटना है। वास्तव में जीवन और मृत्यु बिलकुल एक ही वस्तु है। अतः नचिकेता और यमराज के प्रश्नोत्तर भिन्न न होकर एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

सिद्धान्त तथा आज का गणित जो कुछ प्रमाणित करता है,
सबको उपनिषदीय दर्शन ने पहले से ही आत्मसात् किया हु
है। बड़ी विलक्षण बात है! ज्ञान के उच्चतम शिखर
पहुँच कर हम उसी बिन्दु पर आ जाते हैं। अनुभव की सा
क्षता जीवन और मृत्यु के आन्तरिक सम्बन्ध की व्याख्या
परन्तु जीवन और मृत्यु का मूल अर्थ, जो सृष्टि-विकास की प्रक्रि
का भी अर्थ है विश्व द्वारा आत्मसाक्षात्कार है। हम जी
जीते भी हैं, मरते भी हैं; परन्तु केवल इसलिए नहीं कि
जीना या मरना चाहते हैं। जीवन और मृत्यु के उद्दे
स्वयं जीवन और मृत्यु नहीं हैं। वे तो किसी उद्देश्य
साधन हैं। जीवन की और मृत्यु की भी प्रक्रिया का प
ध्येय समस्त पदार्थों में आत्म-तत्त्व को पहचानना है। सम्प्र
विश्व के अनुभव से हमने अपनी आत्मा को दूर कर रखा
विलग कर लिया है; अतः आत्मा अन्य हो गयी है। इसे
सृष्टि कहते हैं। विश्व-सृष्टि और कुछ नहीं, आत्म-चेतना
विषय में अध्यास है। मानो ईश्वर ही स्वयं के लिए वि
बन गया हो। मानो वह स्वयं को ही दर्पण में देख
हो और देखकर अपने को अन्यवत् मानता हो। यहाँ विष
विषय बन जाता है। निर्विशेष ब्रह्म देश-काल-निमित्त-सापे
होते ही चेतन स्थूल पदार्थ बन जाता है। विश्व का लक्ष्य
कार्य का कारण में प्रत्यावर्तन अर्थात् ईश्वर का ईश्वरम
होकर साक्षात्कार करना, चैतन्य अंश का स्वयं की ओर, अप
आत्म-तत्त्व की ओर परावर्तित होना। यदि वृक्ष बढ़ते
सरिताएँ बहती हैं, सूर्य चमकता है, हम श्वास लेते हैं, चीं
रेंगती और तितली उड़ती है, यदि प्रत्येक वस्तु अपने स्वभा
के अनुरूप क्रियाशील है तो इसीलिए कि प्रत्येक के भीत
ईश्वर का साक्षात्कार करने की तीव्रता है।

अतः जीवन और मृत्यु एक अविरल प्रक्रिया है; परन्तु वे स्वयं में साध्य नहीं हैं, केवल साधन हैं और नचिकेता के तीनों प्रश्न तथा यमराज के तीनों वरदान इन्द्रियों से मन, मन से आत्मा के विकास की विश्व-प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया बाह्य विषयों से बाह्य ज्ञान को नियन्त्रित करने वाले आभ्यन्तरीण तत्त्वों मे होती हुई अन्ततः ब्रह्म तक ले जाने वाली विकास-प्रक्रिया है। ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और आत्मा कठोपनिषद् के विवेच्य सोपान हैं, यही कारण है कि इसमें इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत अनुभव-जगत् की व्याख्या के साथ ही चित्-लोक और अन्ततः आत्मा के स्वरूप का भी विवेचन है।

आत्मा सबकी मृत्यु है—'मृत्युर्यस्योपसेचनम्'

ॐ

सेवा – प्रेम – दान – पवित्रता – ध्यान – साक्षात्कार

विश्व-प्रार्थना

हे स्नेह और करुणा के आराध्य देव !
तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार है।
तुम सच्चिदानन्दघन हो।
तुम सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ हो।
तुम सबके अन्तर्वासी हो।
हमें उदारता, समदर्शिता और मन का समत्व प्रदान करो।
श्रद्धा, भक्ति और प्रज्ञा से कृतार्थ करो।
हमें आध्यात्मिक अन्तःशक्ति का वर दो।
जिससे हम वासनाओं का दमन कर मनोजय को प्राप्त हों।
हम अहङ्कार, काम, लोभ और द्वेष से रहित हों।
हमारा हृदय दिव्य गुणों से पूर्ण करो।
सब नाम-रूपों में तुम्हारा दर्शन करें।
तुम्हारी अर्चना के ही रूप में इन नाम-रूपों की सेवा करें।
सदा तुम्हारा ही स्मरण करें।
सदा तुम्हारी ही महिमा का गायन करें।
केवल तुम्हारा ही कलिकल्मषहारी नाम हमारे अधर-पुट पर हो।

सदा हम तुम में ही निवास करें।

—स्वामी शिवानन्द

ॐ

डिवाइन लाइफ सोसायटी

(दिव्य जीवन संघ)

की सदस्यता

डिवाइन लाइफ सोसायटी (The Divine Life Society) एक सम्प्रदाय-निरपेक्ष संस्था है जिसके विशाल दृष्टि-क्षेत्र में सभी धर्मों के और सामान्य रूप से आध्यात्मिक जीवन के सर्वमान्य मौलिक सिद्धान्त समाहित हैं। कोई भी व्यक्ति, जिसकी सत्य, अहिंसा तथा शुचिता के आदर्श में निष्ठा है, इस संस्था का सदस्य बन सकता है। यह संस्था सभी वादों और धार्मिक रूढ़ियों को समान रूप से सम्मान प्रदान करती है। संस्था के सिद्धान्तों, दार्शनिक मान्यताओं तथा उपदेशों में सभी मतों और सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का अनुकलन होने से इसके सदस्यों की पारम्परिक भूमिका तथा धार्मिक मान्यताएं पृथक्-पृथक् हैं, फिर भी वे इनके आधार पर न तो मतभेद को मान्यता देते हैं और न विघटनकारी मनोवृत्तियों को ही प्रश्रय देते हैं। सच्चे आत्म-ज्ञान में तथा 'अहं को विलय कर उसकी परिधि से ऊपर उठ जाने में ही आध्यात्मिक साधना का रहस्य निहित है'—इस तथ्य को प्रकट करने तथा प्रत्येक प्राणी में भागवतीय चेतना की

सम्भावनाएँ हैं तथा 'भले बन कर और भला करके' अपनी बाह्य और अन्तः प्रकृति पर नियन्त्रण-स्थापन द्वारा इस अन्तस्थित भागवतीय चेतना के अभिव्यक्तिकरण का प्रयास करना ही प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-लक्ष्य है। संस्था की प्रवृत्तियाँ मानवोपकारी, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक कार्यों के लिए समर्पित हैं। उपर्युक्त आदर्श-सम्पन्न कोई भी व्यक्ति डिवाइन लाइफ सोसायटी (दिव्य जीवन संघ) का सहर्ष सदस्य बन सकता है।

प्रति सदस्य का वार्षिक सदस्यता-शुल्क १० रुपये है और यह शुल्क प्रति-वर्ष भुगतान करके नवीनीकरण कराना होता है। प्रत्येक नये सदस्य का प्रवेश-शुल्क जो कि केवल एक बार ही देय है, ११ रुपये है। प्रार्थी के यथावत् पूर्ति तथा हस्ताक्षरित किये हुए प्रवेश-पत्र तथा उपर्युक्त शुल्क के प्राप्त होने पर उसे प्रारम्भिक साधना के कुलक रूप स्वामी शिवानन्द जी द्वारा रचित 'एसेंस आफ योग' नामक अंग्रेजी पुस्तक की एक प्रति, 'जपमाला', आध्यात्मिक दैनन्दिनी के कुछ पृष्ठ तथा संकल्प-पत्र आदि साधना-सम्बन्धी प्रकाशन दिये जाते हैं। सदस्यों को संस्था की आधिकारिक अंग्रेजी पत्रिका 'डिवाइन लाइफ' अथवा हिन्दी पत्रिका 'योग-वेदान्त' भी प्राप्त होती है। इसके लिए उन्हें कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं चुकाना होता है। सदस्यता में सम्मिलित होने के लिए साधकों का हार्दिक स्वागत है।

सबसे महान् दान ❁ ज्ञान का दान

ज्ञान-यज्ञ

(आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार)

श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज मानवता की सेवा के लिए करीब पच्चीस साल से इस महान् यज्ञ को करते आ रहे थे।

तथा उन्होंने आपको सुअवसर प्रदान किया जिससे कि आप ईश्वरीय कृपा, महिमा तथा आशीर्वाद को प्राप्त करें।

स्वामी जी की बहुत सी पुस्तकें अभी तक अप्रकाशित हैं। अपने धर्म-धन के द्वारा आप उन पुस्तकों में से किसी को भी अपने नाम से छपवा सकते हैं। लाखों इससे लाभ उठायेंगे।

योग - वेदान्त

संस्थापक—श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती
सम्पादक—श्री स्वामी चन्द्रशेखरानन्द सरस्वती
वार्षिक चन्दा : ७ रु०

यह पत्र शिवानन्द हिन्दी साहित्य का अनमोल रत्न है।

'योग वेदान्त आरण्य अकादमी' का मुख-पत्र होने से इसमें सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, योग और वेदान्त विषयक सुबोधगम्य सामग्री रहती है।

योग के जटिल अर्थ को साधारण जन-समाज में सरल रीतियों से समझाने के लिए यह उत्तम माध्यम है। अपने पवित्र विचारों को लेकर यह पत्र नवीन आध्यात्मिक युग की शङ्खध्वनि सुनाता है।

इस पत्र में सर्वसाधारण के लेखों को प्रकाशित नहीं किया जाता है, किन्तु अनुभव के आधार पर जो लेख लिखे गये हों और जिनके विचारों की पृष्ठभूमि ठोस और प्रामाणिक हो, ऐसे लेखों को ही इस पत्र में प्रकाशित किया जाता है। जीवनोपयोगी व्यावहारिक सिद्धान्त को प्रकट करने वाले लेख पत्र में अवश्य प्रकाशित किये जाते हैं।

यह पत्र किसी सम्प्रदाय विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करता, किन्तु विश्वात्म-भावना के उद्देश्य को अङ्गीकार कर, केवल उसी सिद्धान्त का हर रीति से प्रतिपादन करता है।

चन्दा और पत्र-व्यवहार इस पते से कीजिए
योग वेदान्त,
डिवाइन लाइफ सोसायटी, पो० शिवानन्दनगर,
जिला टिहरी-गढ़वाल (यू०पी०)